श्री १०८ सोम्बारी बाबाजी महाराज

श्री १०८ सोम्बारी बाबाजी महाराज के चरणोंका प्रसाद यह दैशिकशास्त्र रूपी पुष्प जो भगवती कौशिकीके तीर आपके आश्रम मे प्राप्त हुआ था आपहीके पतित पावन पदपंकजोंमे समर्पण किया जाता है।

अथ

बालगङ्गाधर तिलक-स्मारक

दैशिक-शास्त्र

" यद्यपि जग दुःख दारुण नाना
सबतें कठिन जाति अपमाना ।"

तु. रा.

मुद्रक
शंकर नरहर जोशी,
चित्रशाला प्रेस,
सदाशिव पेठ १०२६
पूना सिटी

मूल्य ४ रुपये

लेखक और प्रकाशक
बद्रीसाह ठुलधरिया,
आल्मोडा-हिमालय
सयु०प्रा०

लेखक की अन्य पुस्तकें

देशभक्तिसे दोनो लोक.. . . . .=)
बाल शिक्षा शैली .. ..|||)
रहस्य प्रकाश............... ....||)
यवन दैशिक शास्त्र अर्थात् अरिष्टोटल के पौलिटिक्स का
सरल हिन्दी अनुवाद ....२)

उक्त पुस्तकें मिलने का पता

गौरीशङ्कर कैलास

आल्मोड़ा -हिमालय—

यू. पी.

बालगंगाधर तिलक-स्मारक दैशिक-शास्त्र

विषय सूची

प्रथम अध्याय

देशभक्ति विभूति

द्वितीय अध्याय

दैशिकधर्म व्याख्यान

तृतीय अध्याय

स्वतन्त्रता

चतुर्थ अध्याय

विराट्

पञ्चम अध्याय.

दैवी सम्पद् योगक्षेम

भूमिका ।

श्रीयुत गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि

"यद्यपि जग दु ख दारुण नाना
सबतें कठिन जाति अपमाना"

जाति अपमान जनित यह कठिन दुःख उस समय और भी दारुण हो जाता है जब अपने ही लोगो के हाथसे अपनी जातिका अपमान होने लगता है। किसी जातिका अपमान अपने लोगों से तब होने लगता है जब उसके नाशका समय आजाता है अथवा उस जातिमें दैशिक-बुद्धि नहीं रहती है। दैशिकबुद्धिसे न केवल जातिका अभ्युदय ही होता है किन्तु अवपातके समय भी वह वीर-शय्यामे प्रवेश किये हुए भीष्मके समान शोभायमान होती है, दैशिक बुद्धिहीन जाति उदयके समय भी द्रौपदीकी चीर हरण करते हुए दुःशासनके समान घृणास्पद होती है। निन्दनीय अभ्युदयकी अपेक्षा प्रशंसनीय अवपात शतधा सहस्रधा अभीष्ट होता है; अतः जातियों के लिए दैशिक बुद्धिकी विशेष आवश्यकता होती है, किन्तु दैशिक-बुद्धिरूपी दीप विना दैशिकशास्त्र रूपी तेल से चल नहीं सकता है।

इन दिनों भारतवर्षका दिङ्मण्डल उदय होते हुए दैशिक बुद्धिरूपी तिमिरारि की किरणों से दीप्तिमान हो रहा है, भारत सन्तानों की रुचि अपने शास्त्र अपने साहित्य अपनी परिष्कृतिकी ओर हो रही है, सर्वत्र जात्युपकार और देशोत्कर्ष की चेष्टा होरही है। अनेक भाग्यशाली माता के लाल भारतकी भटकी हुई नौका को बचाने की चेष्टा कर रहे हैं; यह चेष्टा वीर पुरुष रत्नो का श्रेष्ठ काम है. ऐसे कार्यों के लिए दैशिक शास्त्ररूपी ध्रुव की अगुवानी होनी चाहिए, किन्तु यह भ्रम रूपी कुहिरा कि हमारा कोई दैशिक शास्त्र नहीं है, इस शास्त्र के विषय हमने पाश्चात्यों से शिक्षा लेनी है, हमारे दैशिकशास्त्रके ध्रुवका प्रकाश होने नहीं देता। जबतक यह भ्रमरूपी कुहिरा नहीं हटता है तब तक हमारे दैशिक बुद्धि रूपी दिवाकरका प्रकाश पूर्णतया हो नहीं सकता है।

इन सब कारणों से अपने लोगों को अपने प्राचीन दैशिकशास्त्रकी स्मृति

कराने के लिए अपन प्राचीन आचार्य्यों के बिखरे हुए दैशिक सिद्धान्त रूपी फूलोंका इस पुस्तक में गुंथने की धृष्टता और उतावली किई गई है, यह स्मरण रहना चाहिए कि भारत का प्राचीन दैशिक शास्त्ररूपी अगाध सागर मेरे अल्प विषया बुद्धि रूपी पात्र में समा नहीं सकता है, जो कुछ समाया हुवा है वह अनेक कारणों से पूर्णतया लिखा नहीं जासकता है । इस पुस्तक में बातें सब प्राचीन हैं, केवल भाषा और शैली अर्वाचीन है ।

यह पुस्तक देशभक्तों के लिए लिखी गई है न कि वेद पुराणोंके लिखे जाने के समय की खोज करने वाले पुरातत्व जिज्ञासुओं के मनोरंजन के लिए, इस पुस्तक का उद्देश है अपने लोगों को अपने दैशिक शास्त्रकी स्मृति कराणेका न कि विद्वद्विलास; अतः इस पुस्तक में यह नहीं लिखा गया कि कौन बात कहा से किस आधार पर लिखी गई है, अपरंच ऐसा करने से पुस्तक का अनावश्यक विस्तार हो जाता ।

भगवान् पाणिनीके "रक्षति" सूत्रके अनुसार देश शब्दमे "ठक्" प्रत्यय लगाने से "दैशिक" शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है देश की रक्षा करने वाला, अतः "दैशिक शास्त्रका" अर्थ होता है देशकी रक्षा करने वाला शास्त्र । इस दैशिक शास्त्रका कुछ अंश बहुत पहिले लिखा गया था जो लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाराज को भेजा गया था जिस को पढ़कर आप बहुत प्रसन्न हुए और आपने इस पुस्तक के विषय यह लिखा " I have read your दैशिकशास्त्र with great pleasure my view is entirely in accord with yours and I am glad to find that it has been so forcibly put forword by you in Hindi. " लोकमान्यके कर कमलों से इस पुस्तक की भूमिका लिखी जानेवाली थी; किन्तु सहसा आपका शरीर त्याग हो जाने के कारण ऐसा न हो सका । अतः इस पुस्तक को आपके स्मारक रूप मे प्रकाशित कर देना उचित समझा गया ।

इस दैशिक शास्त्र मे चार खण्ड हैं । इस प्रथम खण्डमे सरल दैशिक सिद्धान्त दर्शाए गए हैं, निदान चिकित्सा और चर्य्या सम्बन्धी जटिल सिद्धान्त उत्तर तीन खण्डों में दर्शाए गए हैं जो अभी छपे नहीं ।

इस पुस्तक के लिखे जाने में श्रीयुत लाला सिद्धदास साह से बडी सहायता मिली आपने अनेक आवश्यक और महत्वकी बातें बताई, श्रीयुत पण्डित देवकी नन्दन पाण्डेयजीने इस खण्ड की विषय सूची बनाने का कष्ट उठाया जिसके लिए आपको धन्यवाद हैं ।

इस पुस्तक के पहिले अध्याय का द्वितीय आह्निक "देश भक्तिसे दोनों लोक" नामक पुस्तक के रूप से प्रकाशित हुआ था, उस में इस पुस्तक के लिखे जानेका कुछ सङ्केत किया गया था जिसे अब श्रीयुत लोकमान्य के सखा श्रीयुत नरहर जोशी के चित्रशाला प्रेस मे छपने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

अन्तमें पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ें और मनन करें, यदि यह पुस्तक उनको हितकर और मनोहारि जंचे तो वे श्रीयुत लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक के इस स्मारकका प्रचार कर के देश सेवामे हाथ बढावें। इत्यलम् ।

अल्मोड़ा—हिमालय, कार्तिक शुक्ल १७ सं. १९७८ } बद्रीलाल हुलधारिया

Bal Gangadhar Tilak

अथ

बाल गङ्गाधर तिलक स्मारक—दैशिक-शास्त्र ।

देशभक्ति-विभूतिकाध्याय ।

प्रथम अन्हिक ।

सुख की विवेचना ।

जिस यूरपने समस्त भूमण्डल में अखण्ड शान्ति फैलाने का बीड़ा उठाया था उसीने क्यों आज सारे सन्सार में घोर अशान्ति फैला दी ? जो भारत दिग्विजय का बड़ा प्रेमी था क्यों आज वह निस्तब्ध और निश्चेष्ट विराजमान है ? जो यूरप एक गाल के वदले दूसरी गाल फेरनेका उपदेश किया करता था क्यों आज वही निःशस्त्र लोगों पर गोली बरसा रहा है ? जिस भारत का मंत्र "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् " था, क्यों आज वही सत्याग्रह का सहारा ले रहा है ? जो इंगालिस्तान जर्मनी को भय्या कहा करता था क्यों आज वह उसी जर्मनी को नष्ट करने के लिये अपने शत्रु रूस से जा मिला और फिर क्यों वही इंग्लिस्तान आज रूस के विरुद्ध तलवार खींच रहा है ? जिस फ्रांसने राजा लूई को सिंहासन से उतारा फिर क्यों उसीने नेपोलियन के आगे मस्तक नमाया ? जो दुर्योधन पाण्डवों को सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं देना चाहता था क्यों उसीने कर्ण को सारा अंग देश दे दिया ? जो मारीच रामचन्द्रजी को शत्रु समझता था क्यों वह यह कहने लगा कि

" मम पाछे धर धावत, धरे शरासन वाण।
फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहुं, धन्य न मो सम आन ।।"

ये विपरीत बातें सुख के लिये हुवीं. जब तक मनुष्य को किसी काम में सुख मिलता है तभी तक वह उसको करता है तदुपरान्त वह उसको त्याग देता है। प्राणी जो कुछ करता है सब सुख की इच्छा से करता है, उसकी समस्त चेष्टायें उसी के लिये हुवा करती हैं, इसीके लिये कोई गिरि गन्हरों में समाधि का अभ्यास किया करते हैं और कोई रणक्षेत्र में वीर शय्याको प्राप्त करते हैं, इसीके लिये कोई देशभक्तिके रंग में

रंग कर अपना सर्वस्व खो देते हैं, और कोई थोडे स्वार्थके वशीभूत होकर अपने देश का सर्वनाश कर देते हैं, इसी के लिये मकदन का मैदान रूसी और जापानी वीरों के रुधिर से रंग गया, इसी लिये वेलजियम के लाख खाक में मिल गये। भिन्न भिन्न भावना ले कर भिन्न भिन्न मार्गों से सब उसी सुख रूपी पीतम को मिलने जा रहे हैं।

अब मीमांसा इस बात की है कि सुख क्या पदार्थ है। इस विषय में अनेक मत पाये जाते हैं, इन सब में विचारास्पद केवल हमारे आचार्यों का मत है। इस मत के अनुसार सुख दो प्रकार का होता है, एक पाशव और दूसरा मानव।

तत्काल आहार निद्रा मैथुन आदिसे जो अनुकूल वेदना उपस्थित होती है उस को पाशव सुख कहते हैं। इस सुख में पशु और पशुवों की विशेषता रखने वाले मनुष्य रमते हैं, यह सुख क्षणिक होता है और इस की रति से मनुष्य का अवपात होता चला जाता है।

स्वलक्ष्य सिद्धि से जो अनुकूल वेदना होती है उस को मानव सुख कहते हैं। इस सुख में मनुष्य और मनुष्यों की विशेषता रखने वाले प्राणी रमते हैं; यह सुख चिरस्थाई होता है और इस की रति से मनुष्य की उन्नति होती चली जाती है।

मनुष्य और पशु में भेद केवल यही है कि मनुष्य का कुछ न कुछ लक्ष्य होता है किन्तु पशु का कुछ लक्ष्य नहीं होता। लक्ष्य ही मनुष्य में मनुष्यत्व समझा जाता है, लक्ष्य ही मनुष्य को पशुवों से अलग करता है, लक्ष्यहीन मनुष्य पशु समझा जाता है, लक्ष्यहीन होना मनुष्य के लिये अधःपातकी पराकाष्ठा समझी जाती है, लक्ष्यहीन मनुष्य के सुधरने की कोई आशा नहीं हो सकती है, वह एक प्रकार से मनुष्यत्व से भ्रष्ट हो जाता है। जैसा मनुष्य का लक्ष्य होता है वैसा ही वह आप भी होता है। उत्तम लक्ष्य से मनुष्य उत्तम, मध्यम लक्ष्य से मध्यम, अधम लक्ष्य से अधम, और लक्ष्यहीन होने से वह पशुप्राय हो कर पाशव सुख में रमने लगता है, आहार निद्रा मैथुन के लिये ही प्राण धारण करने लगता है, इसी लिये उसकी समस्त चेष्टायें होने लगती है। किन्तु मनुष्य प्राण धारण करता है अपने लक्ष्य साधन के लिये और प्राण धारण के लिए ही वह आहार करता है, यदि निराहार रहने से उसका लक्ष्य सिद्ध होता है तो वह आहार करना तुरन्त त्याग देता है, लक्ष्य सिद्धि के लिए आहार कोही क्या वह प्राणों को भी त्यागने को सन्नद्ध रहता है। उग्र से उग्र और कठिन से कठिन कर्म मनुष्य लक्ष्यसिद्धि के लिए ही किया करता है, इसी के हेतु उस की सारी प्रवृत्ति हुआ करती है; अपने लक्ष्यसिद्धि के मार्ग में ज्यों ज्यों स्वलक्ष्य सिद्धि उस को समीप दिखाई देने लगती है, त्यों त्यों उस के सुख की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और जब तक उसका लक्ष्यसिद्ध नहीं हो जाता है

तब तक वह पूर्णतया सुखी नहीं हो सकता है, लक्ष्य सिद्ध हो जाने पर वह कृतार्थ हो जाता है, उस के अनान्द की सीमा नहीं रहती है।

लक्ष्य तीन प्रकार का होता है:-(१) सात्विक, (२) राजसिक, (३) तामसिक।

बुद्धि ग्राह्य लक्ष्य सात्विक होता है।
इन्द्रिय ग्राह्य लक्ष्य राजस होता है।
प्रमाद ग्राह्य लक्ष्य तामस होता है।

इसही के अनुसार सुख भी तीन प्रकार का होता है:-(१) सात्विक, (२) राजस, (३) तामस।

जो सुख बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है वह सात्विक कहा जाता है; वह आरम्भ में विष के समान और परिणाम में अमृत तुल्य होता है।

जो सुख इन्द्रिय और उनके विषयों के संयोग से प्राप्त होता है वह राजस कहा जाता है; वह आरम्भ में अमृत के समान परन्तु परिणाम में विष के तुल्य होता है।

जो सुख प्रमाद से उत्पन्न होता है वह तामस कहा जाता है; वह आरम्भ में और परिणाम में भी मोहकर होता है।

मानव सुख साधन के लिये मुख्य चार बातें आवश्यक होती हैं:-(१) सुसाध्य आजीविका, (२) शान्ति, (३) स्वतन्त्रता, (४) पौरुष। इनका अभाव अर्थात् कष्ट साध्य आजीविका, चिन्ता, परतन्त्रता और क्लैव्य मानव सुख के मुख्य विघ्न होते हैं। क्योंकि कष्ट साध्य आजीविका से मनुष्य सदा जीवन यात्रा के गोरख धन्धो में उलझा रहता है, इसी में उस का सारा समय चला जाता है; चिन्ता से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है; परतन्त्रता से वह असमर्थ हो जाता है; क्लैव्य से वह निरुत्साह हो जाता है। यह सिद्ध है कि समय हीन, बुद्धि हीन, सामर्थ्य हीन, और उत्साह हीन मनुष्य का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता है अर्थात् उस को मानव सुख प्राप्त नहीँ हो सकता है।

जिस मनुष्य को भोजन के लिये सारे दिन हड्डी तोड़ परिश्रम करना पड़ता है, जिस को सदा चिन्ता लगी रहती है, जो परतन्त्र और पौरुष हीन हो जाता है उसको पाशव सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता है; क्यों कि आहार, निद्रा, मैथुन आदि से अनुकूल वेदना तभी प्राप्त होती है कि जब वे अल्प परिश्रम से शान्ति और स्वतन्त्रता पूर्वक प्राप्त होंव और इसी प्रकार भोगे भी जा सकें।

किन्तु सुसाध्य आजीविका, शान्ति, स्वतन्त्रता और पौरुष जब तक समाज में समष्टिगत नहीं होते हैं तब तक वे एक सङ्ग व्यक्तिगत भी नहीं होते हैं और यदि दैवात् हो भी गये तो वे फलीभूत और चिरस्थायी नहीं होते हैं। अङ्गी में प्राण के समष्टिगत न होने से जो दशा अङ्ग की होती है, वृक्ष में रस के समष्टिगत न होने से जो दशा पत्र की होती है, वही दशा समाज में सुसाध्य आजीविका आदि के समष्टिगत न होने से व्यक्ति की भी होती है, क्योंकि सामाजिक जीव होने से मनुष्य का अपनी समाज से वही सम्बन्ध होता है, जो अङ्ग का अपने अङ्गी से और पत्र का अपने वृक्ष से होता है। अतः गायत्री आदि वेद मन्त्रों में जब सविता आदि देवताओं से कुछ अभीष्ट पदार्थ मांगा गया तो वह समष्टि के लिये ही मांगा गया।

इस आन्हिक में बिचारास्पद बातें ये हैं:–

(१) मनुष्य की सारी प्रवृत्ति केवल सुख के लिये है।

(२) सुख दो प्रकार का होता है:–(१) पाशव, (२) मानव।

(३) आहार निद्रा मैथुन, आदि से जो अनुकूल वेदना होती है वह पाशव सुख कहा जाता है।

(४) स्वलक्ष्य सिद्धि से जो अनुकूल वेदना होती है वह मानव सुख कहा जाता है।

(५) मानव सुख भी तीन प्रकार का होता है:–(१ सात्विक, (२) राजस, (३) तामस।

(६) जो सुख बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है वह सात्विक कहा जाता है।

जो सुख इन्द्रिय और उन के विषयों के संयोग से प्राप्त होता है वह राजस कहा जाता है।

जो सुख प्रमाद से होता है वह तामस कहा जाता है।

(७) मानव सुख के लिये चार बातें आवश्यक होती हैं:–(१) सुसाध्य आजीविका, (२) शान्ति, (३) स्वतन्त्रता, (४) पौरुष।

(८) पाशव-सुख के लिये भी उक्त चार बातें आवश्यक होती हैं।

(९) जब तक उक्त चार बातें समाज में समष्टिगत नहीं होती हैं तब तक वे व्यक्ति को भी प्राप्त नहीं होती हैं, और जो दैवात् हुईं भी तो वे फलभूत और चिरस्थाई नहीं होती हैं।

इति दैशिकशास्त्रे देशभक्तिविभूतिकाध्याये सुख विवेचनो नाम प्रथमान्हिकः

द्वितीय आन्हिक।

देशभक्ति विभूतियों का प्रतिपादन।

प्रथम आन्हिक में यह कहा गया है कि सुसाध्य आजीविका, शान्ति, स्वतन्त्र-ता, और पौरुष के समष्टिगत हुए बिना समाज में कोई सुखी नहीं हो सकता है। किन्तु सुसाध्य आजीविका आदिका मनुष्यों के व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करके जातिगत हित में लगे बिना समष्टिगत नहीं हो सकते हैं। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है भारत। यह प्रत्यक्ष है कि इन दिनों सुजला, सुफला, शस्यश्यामला भारत भूमि के सन्तानों को घोर अन्न कष्ट हो रहा है, आज माई अन्नपूर्णा के प्रिय प्रमोद कानन इस भारत में उदरपूरण परं पौरुष समझा जाने लगा है, आज वसु-मती बुद्धिमती इस भूमि का मुखारविंद चिन्तारूपी तुषार लेखा से आकुलित हो रहा है, आज रत्नाकर मेखला, हिमगिरि मुकुटा इस भूमि को स्वतन्त्रता के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं; आज अध्यात्मदक्षा बीर जननी इस भूमि में महादैन्य छाया हुआ है; आज साहित्य घनाग्रगामी इस भारत की साहित्यरूपी मान पताका उसी के सन्तानों के हाथ से उखाड़ी जा रही है, आज उसकी कीर्तिरूपी उज्ज्वल कौमुदी अस्ताचल चूड़ावलम्बिनी हो रही है, आज भारत सन्तानों में सब को किसी न किसी प्रकार का दुःख किसी न किसी प्रकार की चिन्ता लगी हुई है, चाहे उन में कोई मुकुटधारी हो अथवा कन्थाधारी, चाहे कोई विद्यावारिधि हो अथवा अनक्षर-भट्टाचार्य, चाहे कोई योगी हो अथवा भोगी। भूपतियों को चाहे अन्न कष्ट न हो किन्तु उन को वह महा दुःख वह दारुण चिन्ता है जिसका अनुमान नहीं किया जा सकता है; निर्धनों को चाहे राजा महाराजाओं का सा दुःख न हो किन्तु पापी पेट सदा उनके होश उड़ाए रहता है, विद्वानों का विद्याविलास और मूर्खों की आविद्या की लोरियां तभी तक हैं कि जब तक पेट भर हुआ और शरीर ढका हुआ है; यो-गियों का योग और भोगियों का भोग भी तभी तक है कि जब तक समाज में अन्न सुलभ और आहार विहार स्वच्छन्द हैं। मध्यस्थवृत्ति वाले भारत सन्तान भी सुखी नहीं हैं क्योंकि इन दिनों उन के लिये आजीविका के प्रायः सभी द्वार बन्द हैं केवल एक द्वार सेवावृत्ति का खुला हुआ है जिस से वे जनमेजय के होताओं के मन्त्रों से मुग्ध हुए सर्पों के समान बलात् परतन्त्रता में पड़ रहे हैं, इस द्वार से प्रवेश करने के अतिरिक्त उन को और किसी बात की इच्छा ही नहीं है, प्रवेश हो जाने पर फिर उन को किसी काम के लिये समय मिलना कठिन हो जाता है, इस वृत्ति में वे ऐसे उलझ जाते हैं कि इसके आतिरिक्त उन का और कोई लक्ष्य रहता ही नहीं, क्रमशः वे लक्ष्यहीन हो जाते हैं। यही नहीं वरन उन का आहार विहार भी स्वच्छन्द नहीं रहता, धैर्य्य से भोजन करना और सुख से सोना उनको दुर्लभ हो जाता है; अर्थात्

मानव सुख तो रहा एक ओर पाशवसुख भी उन को दुर्लभ हो जाता है । चाहे किसी झरोखे से देखिये भारत में सर्वत्र एक ही दशा है, प्रायः सबकी आजीविका कष्टसाध्य है, सब को किसी न किसी प्रकार की चिन्ता है, कोई स्वतन्त्र नहीं है, सब पौरुषहीन होगये हैं ।

किन्तु भारत में अब भी वही उपजाऊ भूमि है, वही अनुकूल जलवायु है, पूर्व और पश्चिम में वही अगाध समुद्र है, उत्तर में वर्तमान भी है वही गिरिराज हिमालय

" यं सर्वे शैलाः परिकल्प्य वत्सं
मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भाष्वन्ति रत्नानि महोषधींश्च
पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ "

तो क्या कारण है कि इन दिनों भारत सन्तानों को ऐसा घोर अन्न कष्ट हो रहा है ? क्यों सुख उन से ऐसा रूठा हुआ है ?

क्या इसका कारण यह है कि वे लोग बुद्धिहीन हैं ? वर्तमान यूरप के गुरु यूनान ने जिस देश से शिक्षा पाई उस के सन्तान मूर्ख हो नहीं सकते ।

तो क्या वे आलसी हैं ? जिनके श्रमोपार्जित अन्न से देश देशान्तरों का पालन हो रहा है, जिनके पसीने से अनेक देशों में अनेक कारखाने चले हुए हैं, वे आलसी हो नहीं सकते

तो क्या वे विलासी और अतिव्ययी हैं ? दो पैसे रोज जिन की औसत आय है, जो आठ, दस रुपये माहवार में अपना कुटुम्ब पालन कर लेते हैं, पच्चीस तीस रुपये की बाबूगिरी के लिये जिनकी लार टपकती है, सौ रुपया माहवार जिन के लिये कुबेर का भण्डार समझा जाता है उन में विलास और अतिव्यय हो कहां तक सकता है ।

तो क्या वे भीरु हैं ? जिस जाति में अनन्त कर्ण और अनेक अभिमन्यु उत्पन्न हुए हैं, जिस जाति का केसरी बाना अब तक प्रसिद्ध है, जो जाति एकान्त विध्वंसी इस शरीर को तुच्छ समझती है वह भीरु हो नहीं सकती ।

यह नहीं, वह नहीं; तो क्या कारण है कि अन्नपूर्णा की विहारभूमि, श्री सरस्वती के प्रमोद कानन, वीरता के रंगस्थल इस भारत में सुख को क्षयरोग हो चला है ? इस का कारण है भारत सन्तानों का जातिगत हित की उपेक्षा कर के व्यक्तिगत हित साधन में लगा रहना । समस्त गुणराशि नाशी इस एक दोष ने भारत के अनन्त गुणों को धूल में मिला दिया ।

इसके विपरीत गुण से अर्थात् व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करके जातिगतहित में लगे रहने से वैसा इंगलिस्तान आज ऐसा होगया है, जो इंगलिस्तान सदा नीहार-मग्न रहता है, जहां सूर्य देवता के दर्शन प्रायः दुर्लभ होते हैं; आज माई अन्नपूर्णा उस के द्वार पर हाथ जोड़ खड़ी हैं; जो इंगलिस्तान भारत की सम्पत्ति का अनुमान नहीं कर सकता था, इसी गुण के कारण आज उस के हाथ में भारत की निःशेष सम्पत्ति है; जिस इंगलिस्तान के बड़े बड़े लोगों को वे ऐश्वर्य प्राप्त नहीं थे जिनको भारत का एक साधारण मनुष्य भोगा करता था, आज उसी इंगलिस्तान का एक साधारण मनुष्य उन भोगों को भोग रहा है जो भारत के राजा नव्वाबों को दुर्लभ हैं; जो इंगलिस्तान जीवन यात्रा की मीमांसा में सदा माथा पचाया करता था आज सुख उसका अनुचर बना हुआ है, ऐश्वर्य्य उसकी टहल कर रहा है; जिस इंगलिस्तान को कोई नहीं जानता था, आज उसकी कीर्ति से दिशाएं देदीप्यमान होरही हैं; जो इंगलिस्तान वाणिज्य के लिये स्थान स्थान में मारा मारा फिरा करता था आज देश देशान्तरों के महीपालों के मुकुटमणियों से उस के चरणारविन्द जगमगा रहे हैं; जिस इंगलिस्तान को दिल्लीपति के दर्शनों की अभिलाषा थी, उक्त गुण के कारण आज वह दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान है ।

ऊपर कही हुई जो बात भारत और इंगलिस्तान के इतिहास से सिद्ध होती है वही संसार के समस्त देशों के इतिहास से भी सिद्ध होती है, चाहे किसी समय का किसी देश का इतिहास लीजिये सब से यही सिद्ध होता है कि जातिगत 'हित के लिये व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करने से देश सुख से भरपूर हो जाता है और इसके विपरीत गुण से देश में सुख का ह्रास हो जाता है ।

अब मीमांसा इस बात की है कि मनुष्य में जातिगत हित के लिये व्यक्तिगत हित की उपेक्षा करने की सुबुद्धि कैसे उत्पन्न होती है और कैसे उस सुबुद्धि में उस की स्थिति होती है । यह होता है चिति के प्रकाश और विराट की जागृति से । चिति-प्रकाश और विराटजागृति का अर्थ इस समय यह समझ लेना चाहिये कि किसी नित्य ओजस्वी और जातिगत अर्थ का प्राधान्य में आना ।

किसी नित्य अर्थ के प्राधान्य में लाने से मनुष्य सदा उसी के साधन में लगा रहता है, उस नित्य अर्थ के ओजस्वी होने से मनुष्य स्वभावतः अपने क्षुद्र अर्थों की सदा उपेक्षा किया करता है, उस नित्य और ओजस्वी अर्थ के जातिगत होने से मनुष्य जातिगत हित के लिये व्यक्तिगत हित की सदा उपेक्षा किया करता है ।

जातिगत–हित के लिये व्यक्तिगतहित की उपेक्षा करना भारत की आधुनिक भाषाओं में देशभक्ति कहा जाता है । अतः दैशिकशास्त्र के अद्वितीय आचार्य्य प्राचीन भारत का उक्त सिद्धान्त दैशिकशास्त्र मूलमानी अर्वाचीन भारत की भाषा

में यों कहा जा सकता है कि देश भक्ति के बिना मनुष्य सुखी नहीं हो सकता हैं। देश भक्ति विभूति का प्रतिपादन ऐतिहासिक पक्ष से होचुका है।

आधिजीविक पक्ष से भी मनुष्य के लिये देशभक्ति की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि सामाजिक जीव होने से मनुष्य का अपनी जाति से वही सम्बन्ध होता है जो किसी इन्द्रिय आदि का अपने शरीर से, अथवा किसी पत्र आदि का अपने वृक्ष से। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय आदियों को अपने शरीर के लिये कुछ न कुछ काम करना पड़ता है और जब तक वे अपने शरीर के लिये अपने काम को करते जाते हैं तब तक शरीर निरामय रहता है जिस से सब इन्द्रिय आदि सुखी रहते हैं; और जब वे अपने कर्तव्य से मुख मोड़ कर स्वार्थ में रमने लगते हैं तो शरीर में अनेक व्याधियां उत्पन्न होने लगतीं हैं जिससे उनका अवपात होने लगता है। इसी प्रकार प्रत्येक पत्र आदिकों को भी अपने वृक्ष के लिये कुछ न कुछ काम करना पडता है और जब तक वे अपने वृक्ष के लिये अपना काम करते रहते हैं तब तक वह सारा वृक्ष हरा भरा रहता है, और जब वे स्वकर्त्तव्यच्युत होने लगते हैं तो वे सूखने अथवा सड़ने लगते हैं। एवं मनुष्यों को भी अपनी जाति के लिये कुछ न कुछ करना पड़ता है और जब तक वे अपनी जाति के लिये अपना कर्त्तव्य पालन करते जाते हैं तब तक उनकी जाति का श्रेयस् होता जाता है, जिस से व्यक्ति सदा सुखी रहते हैं और जब वे अपने जातिधर्म से भ्रष्ट होकर स्वार्थसाधन करने लगते हैं तो उन का सब प्रकार से अव-पात होने लगता है।

मनुष्यों के समान अनेक पशु और कीट भी सामाजिक हैं; इन में जो सामाजिक नियम वर्ता जाता है वही मनुष्यों के लिये प्राकृतिक नियम समझा जाना चाहिये; क्योंकि प्रकृति के नियमों को पशु और कीट मनुष्यों की अपेक्षा ठीक ठीक समझते हैं। इन सामाजिक तिर्यगों में सब से अधिक परिचय हमारा मधुकरों से है, जिन में सदा यह देखा जाता है कि उन को अपने समाज के हित के अतिरिक्त और किसी बात का ध्यान रहता ही नहीं, प्रत्येक मधुकर अपनी बलबुद्धि के अनु-सार सदा अपने समाज के हित साधन में लगा रहता है; कोई मोम का सञ्चय करता है, कोई केशर की ढूंढ में मारा मारा फिरता है, कोई करण्ड बनाने में व्यग्र रहता है, कोई उन में मधु भरता है, कोई कोष की रक्षा किया करता हैं; एवं सब किसी न किसी सामाजिक कर्म को करने में तन्मनस्क रहते हैं। चीटियों में भी यह बात पाई जाती है विशेषतः उस समय जब दो भिन्न जातियों की चीटियों में युद्ध हो जाता है। अन्य सामाजिक पशुओं में भी यह नियम देखा जाता है। अतः आधिजीविक रूप से सिद्ध होता है कि मनुष्यों के लिये देशभक्ति परम आवश्यक कर्म है।

औपयोगिक पक्ष से भी देश-भक्ति उपकाराधिक्य का सुगम और सरल मार्ग

है; बहुतों का बहुत सुख जैसा देशभक्ति से होता है वैसा और किसी प्रकार नहीं होता है क्योंकि देशभक्ति का उद्देश ही समष्टिहित साधन है । जैसे बहुत गोदानों की अपेक्षा एक ऐसा काम अधिक उपयोगी और श्रेयस्कर होता है कि जिससे गायें सुलभ और सुपालनीय हों, जैसे बहुत स्कूल और कालेजों की अपेक्षा एक ऐसा काम कि जिससे लोगों का दैन्य और अज्ञान चला जाय अधिक हितकर होता है; जैसे भिन्न भिन्न खेतों की सिंचाई के लिये अलग अलग घडों से पानी लाने की अपेक्षा एक साथ सब की सिंचाई के लिये एक नहर लाना बहुत उपयोगी होता है, एवं छोटे छोटे परोपकार के कामों की अपेक्षा एक देशभक्ति अनेकधा श्रेयस्करी होती है ।

आमुष्मिक पक्ष से भी देशभक्ति परं पुण्य कर्म समझा जाता है क्योंकि अभी यह कहा गया है कि देशभक्ति का उद्देश्य है जातिगत सुख, किन्तु जो काम बहुजन हिताय बहुजन सुखाय किया जाता है उससे कर्त्ता बहुत दिनों तक स्वर्ग में रहता है । जिस कर्म से जितने अधिक प्राणियों का उपकार होता है उतने अधिक दिनों तक कर्त्ता स्वर्ग में रहता है ।

अपरञ्च यह कहा जाता है कि " अन्ते या मतिः सा गतिः " अर्थात् मनुष्यों के चित्त में मरण काल में जैसे संस्कार होते हैं वैसी उनकी गति होती है और यह स्वाभाविक है कि मरणकाल में देशभक्त के हृदय में बीर संस्कार होते हैं, हमारे आचार्यों के अनुसार मरणकाल के बीर संस्कार अत्युत्तम समझे जते हैं ऐसे उत्तम कि अन्धमुनि ने अपने प्यारे श्रवण को अन्तिम बिदाई देते समय यही आशीर्वाद दिया कि

" यां हि शूरा गतिं यान्ति सङ्ग्रामेष्वानिवर्तिनः ।
हतास्त्वमभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ "

किन्तु जो महात्मा संसार को असार, ममता को माया, विषय सुखों को तुच्छ, स्वर्ग को अनित्य समझते हैं, जिन्होंने अपने सच्चिदानन्द रूप में विराजमान होने का सङ्कल्प कर लिया है उनको देश-भक्ति से क्या लाभ हो सकता है ? ऐसे त्यागी मुमुक्षु जनों को देश-भक्ति की अधिकतर आवश्यकता होती है । क्योंकि देशभक्ति राग क्षीण और सत्व विकास करने की महौषधि, मनुष्य को आत्मज्ञान का अधिकारी बनाने की युक्ति, मोक्ष का द्वार खोलने की कुञ्जी है; देशभक्ति के बिना कैवल्य यदि जन्मजन्मान्तरों में प्राप्त होगा तो तीव्र देश-भक्ति से वह एक ही जन्म में प्राप्त हो सकता है । क्योंकि कैवल्य पद प्राप्त होता है केवल आत्मज्ञान से, आत्मज्ञान प्राप्त होता है योगाभ्यास से; किन्तु योग बडा ही कठिन काम है,

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया ।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥"

छुरे की धार के समान कठिन इस योग मार्ग में बिना चित्त शुद्धि के चला नहीं जाता, चित्त शुद्धि होती है सत्व विकाश से, सत्व विकाश होता है रजोगुण के दूर होने से, किन्तु रजोगुण दबाने से दबता नहीं है कर्म करने से वह क्षीण किया जा सकता है ।

अब विचारास्पद यह है कि कर्म तो सभी करते हैं बिना कर्म किये कोई रहता ही नहीं, तो सब के चित्त का रजोगुण क्षीण क्यों नहीं हो जाता; कारण क्षीण न होने का यह है कि साधारण कर्मों के करने से रजोगुण क्षीण नहीं होता है बरन वह बढता जाता है; वह क्षीण होता है ऐसे कर्मों के करने से जिन में ओजस् त्याग और विवेक का संग होता है; ओजस्वी कर्मों को करने के लिये स्वभावतः रजोगुण की आवश्यकता होती है, जिस काम में जितना ओजस् होता है उस में उतनी रजोगुण की आवश्यकता होती है, अतः ओजस्वी कर्मों के करने से व्यक्ताव्यक्त रूप से चित्त में वर्तमान रजोगुण उमड़ कर एकत्र हो जाता है, त्याग से चित्त में तृष्णा और संग उत्पन्न होने नहीं पाते, तृष्णा और संग के न होने से चित्त में संस्कार पडने नहीं पाते, चित्त में संस्कारों के न पड सकने के कारण रजोगुण निराधार हो कर क्षीण हो जाता है; अतः ओज और त्याग का संग होने से रजोगुण उमड़ कर क्षीण हो जाता है । रजोगुण के क्षीण होने से सत्व और तमस दोनों को उदय होने का अवसर मिलता है किन्तु विवेक का अभ्यास करने से ज्ञान नाडियां जागृत होती जाती हैं जिस से सत्व प्रबल होता जाता है, सत्वके प्रबल होने से तमोगुण का उदय नहीं हो सकता है; अतः किसी कार्य्य में ओज त्याग और विवेक का संग होने से रजोगुण का क्षय हो कर सत्व का विकाश होता । कर्म इस संसार में असंख्य प्रकार के होते हैं, किन्तु किसी में ओजस् की कमी होती है, किसी में त्याग की, किसी में विवेक की, किसी में दो की, किसी में तीनों की । ढूंढते ढूंढते यदि ऐसा कोई कर्म मिल भी जाय कि जिस में उक्त तीनों बातें हों तो नीरस होने से उस की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति होना कठिन हो जाता है, देशभक्ति ही एक ऐसा कर्म है कि जिस में उक्त तीनों बातों की यथेष्ट मात्रा रहती है और सरस होने से जिस की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति अनायास हो जाती है ।

अपरञ्च अध्यात्म मार्ग में जिस परवैराग्य की आवश्यकता होती है वह अरुन्धतीदर्शन न्याय से किये हुये दीर्घाभ्यास के बिना प्राप्त नहीं हो सकता है, अर्थात् परमवैराग्य को प्राप्त करने के लिये प्रथम व्यक्तिगत स्वार्थ से मन को हटा कर जातिगत स्वार्थ में लगाना चाहिए फिर उन को जातिगत स्वार्थ से हटा कर लोकोपकार में लगाना चाहिए, फिर उस को लोक से भी हटा कर आत्मा में लगाना

चाहिए। परवैराग्य को प्राप्त करने के लिये रजोगुण को ऊर्ध्व करना पड़ता है अर्थात् चित्त को एक ऐसे विषय में लगाना पड़ता है कि जिस के स्वाद में मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और विषय भोगों को भूल जाय, देशभक्ति ही एक ऐसा काम है कि एक बार जिसका रसास्वादन होने पर मनुष्य के चित्त से व्यक्तिगत स्वार्थ और विषय भोगों की लालसा उड़ जाती है, परवैराग्य रूपी जल के लिये मानो नहर खुद जाती है।

अपरञ्च सच्चे देशभक्त को बार बार लोभ और भय का प्रतिरोध करना पड़ता है। बार बार ऐसा करने से वह सत्य संकल्प और निश्चयात्मक बुद्धि हो जाता है। ऐसा हो जाने से योग के विघ्नों को हटाते हुए वह अनायास अध्यात्म मार्ग में चला जाता है।

अध्यात्म पक्ष से भी देश-भक्ति की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी। जिस पक्ष से देखिये उसी से देश-भक्ति मनुष्य के लिये काम धेनु जान पड़ती है, वास्तव में इसी देशभक्ति रूपी यज्ञ के लिये ब्रह्मा ने मनुष्य से कहा कि

"अनेन प्रसविष्यध्वं एषवोऽस्त्विष्ट काम धुक्।"

इति दैशिक-शास्त्रे देशभक्ति विभूतिकाध्याये देशभक्ति
विभूति प्रतिपादनो नाम द्वितीयान्हिकः

२

दैशिकधर्म व्याख्यानाध्याय।

प्रथम आन्हिक ।

देश शब्द का अर्थ ।

हमारे प्राचीन साहित्य में देश-भक्ति शब्द कहीं भी नहीं पाया जाता है, यह बिलकुल नवीन शब्द है, रचना भी इस की ऐसी है कि जिस में विदेशीयता स्पष्ट विदित होती है। जब हमारे देश में हमारी प्राचीन विद्या और साहित्य रूपी भगवान् भास्कर अन्तर्हित हो गये, सर्वतः अन्धकार छा गया, सहसा अंग्रेजी विद्या और साहित्य रूपी चन्द्रमा का उदय हुआ लोग आनन्द से फूले न समाये, उस आनन्द में उन को सब दुरितों का नाश करने वाले अपने साहित्य सविता की विस्मृति हो गई, वे अंग्रेजी रंग में रंगने लगे, उन में अंग्रेजी भावों का प्रचार होने लगा, किन्तु अंग्रेजी भाषा का शीघ्र सार्वजनिक प्रचार न हो सकने के कारण अंग्रेजी शब्दों का सब देशी भाषाओं में अनुवाद होने लगा; अतः हमारी भाषाओं में अनेक नये नये शब्द बन गये। देश-भक्ति शब्द भी इसी प्रकार के बने हुये शब्दों में से है, यह अंग्रेजी " पैट्रियटिज्म " शब्द का अनुवाद जान पड़ता है।

किन्तु इस से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि हमारे प्राचीन साहित्य में ऐसा कोई शब्द था ही नहीं। हमारे दैशिकशास्त्र में ऐसे दो शब्द थे एक " दैशिक-धर्म " और दूसरा " जाति धर्म "; पहिला अब कहीं देखने में नहीं आता, हां दूसरा शब्द कहीं कहीं देखने में आता है, यथा भगवद्गीता में:—

" उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः "

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारी भाषा में ये शब्द थे तो इस पुस्तक के पूर्वाध्याय में इन शब्दों को छोड़ कर देश-भक्ति शब्द क्यों काम में लाया गया? उत्तर इस का यह है कि बिना व्याख्या के इन शब्दों का अर्थ कदाचित ही कोई समझे, किन्तु देश-भक्ति शब्द को सब समझ लेते हैं; अतः पूर्वाध्याय में देश-भक्ति शब्द काम में लाया गया।

इस पुस्तक में अपने प्राचीन दैशिक-शास्त्र का अनुशासन किया गया है; अतः इस में व्याख्या भी उस शास्त्र में काम में आये हुए दैशिकधर्म और जातिधर्म शब्दों की होगी । बिना देश और जाति का अर्थ जाने दैशिकधर्म और जातिधर्म का अर्थ समझ में नहीं आ सकता है; अतः प्रथम मीमांसा देश और जाति शब्दों के अर्थों की है ।

साधारणतः देश शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । यह शब्द कहीं स्थान विशेष का अर्थ द्योतक होता है; यथाः—

" केयूर कोटिक्षतताल्लुदेशा शिवा भुजच्छेद अपाचकार "।

कहीं स्थान के लिये काम में आता है; यथाः—

" तं देशमारोपित चारुचापे रति द्वितीये मदने प्रपन्ने "

कहीं भाग के लिये; यथाः—

" अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्र लेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्य नभः प्रदेशाः "

कहीं प्रान्त के लिये; यथाः—

" युधाजितश्च सन्देशात् देशं सिन्धु नामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः " ॥

कहीं राष्ट्र के लिये, यथाः—

" अन्योन्य देश प्रविभाग सीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः " ॥

देश शब्द के इन अर्थों में से एक भी दैशिकशास्त्र के अनुसार नहीं है, किन्तु वाल्मीकिरामायण में एक स्थान में देश शब्द इस प्रकार आया है:—

" गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्ट पराक्रमाम्
" नहि ते स्त्री वधकृते घृणाकार्या नरोत्तम
" चातुर्वर्ण्य हितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना
" नृशंसमनृशंसंवा प्रजारक्षणकारणात्
" ....
" सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद्ब्रह्मवादिनः
" करिष्यामि न सन्देहः ताटकावधमुत्तमम्
" गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हितायच ॥ "

यहां निश्चय देश ऐसी भूमि के अर्थ में आया है कि जहां गोभक्ति और ब्राह्मण प्रतिष्ठा हो और जहां ब्राह्मणादि चार वर्ण रहते हों, अर्थात जहां आर्य जाति रहती हो। हमारे दैशिकशास्त्र में भी वह शब्द इसी अर्थ में आया है; दिश् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने से देश शब्द बनता है; दिशतीति देशः अर्थात जो भूमि अपनी आश्रित जाति को सूचित करती है वह देश कही जाती है। देश और जाति में समवाय सम्बन्ध होता है; जैसे बिना तन्तुओं के कोई वस्त्र नहीं हो सकता है, किन्तु बिना वस्त्र के तन्तु होते ही हैं, एवं बिना जाति के कोई भूमि देश नहीं कही जाती है किन्तु बिना देश के जाति होती ही है, दैशिक-शास्त्र के अनुसार देश शब्द का अर्थ होता है पृथ्वी का ऐसा भाग जिस में कोई जाति सन्तान रूप से बसी हुई हो अर्थात ऐसे सम्बन्ध से कि जो उस भूमि के अतिरिक्त और किसी भूमि से न हो सके। कोई भूमि तब तक देश नहीं कही जा सकती है कि जब तक उस में किसी जाति का मातृकममत्व, अर्थात ऐसा ममत्व कि जैसा पुत्र का माता के प्रति होता है, न हो। अतः शहारा मरु के लिये देश शब्द काम में नहीं आ सकता है क्योंकि उस में कोई जाति सन्तान रूप से बसी हुई नहीं है; पृथ्वी के कई अन्य भागों और कई टापुओं में भी हमारे भारतीय लोग रहते हैं, किन्तु ये उन के देश नहीं कहे जाते हैं क्योंकि उन के चित्त में भारत को लौट आने की इच्छा अभी बनी हुई है, अभी भारत से उन का मातृक सम्बन्ध बना हुआ है, जब तक भारत से उन के इस सम्बन्ध का विच्छेद नहीं हो जाता है तब तक वे भाग अथवा वे टापू उन के देश नहीं कहे जा सकते हैं, एवं भारत भी अंग्रेजों का देश नहीं कहा जा सकता है चाहे राज्य उनका वहां हो; क्योंकि वे लोग वहां सन्तान रूप से बसे हुवे नहीं है, जो कोई थोड़े अंग्रेज वहां बसे हुऐ हैं वे भी सन्तान रूप से बसे हुए नहीं हैं, उन के चित्त में इंगालिस्तान को लौट जाने की इच्छा अभी बनी हुई; यदि भारत के किसी अंश में अंग्रेजों का उपनिवेश हो जाय तौ भी भारत का वह अंश तब तक उन का देश नहीं कहा जायगा कि जब तक वहां उपनिविष्ट अंग्रेज लोग इंगलिस्तान से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके वहां सन्तान रूप से रहने न लगें और हम लोग उस से अपना सम्बन्ध अलग न कर लेवें। एह स्मरण रहना चाहिये कि यदि भारत में उपनिविष्ट अंग्रेज लोग इंगलिस्तान से अपना सम्बन्ध त्याग कर उस उपनिवेश को अपनी मातृभूमि मानने लग जांय और हम लोग भी उस स्थान को अपन देश समझें तो कुछ काल तक अंग्रेजों और हम लोगों में खींचातानी रहेगी, अन्त में एक समय ऐसा आयगा कि या तो वहां उपनिविष्ट अंग्रेज लोग अपनी जातित्व खोकर हम लोगों में विलीन हो जायेंगे अथवा हम लोग अपनी जातित्व खोकर उन अंग्रेजों में विलीन हो जावें गे, तब जिस जाति का हाथ ऊपर रहेगा वह उस स्थान को अपना देश कह सकेगी। यह भगवती प्रकृति का सनातन नियम है कि एक भूमि दो जातियों का देश नहीं हो सकती है, एक जाति को अपनी

जातित्व खोकर दूसरी में विलीन होना पड़ता है अथवा उस की भोग्य वस्तु होकर रहना पड़ता है।

इति दैशिक शास्त्रे दैशिक धर्मव्याख्यानाध्याये देशविवरणो
नाम प्रथमान्हिकः ।

द्वितीय आन्हिक

जाति शब्द का अर्थ।

इस अध्याय के प्रथमान्हिक में देश शब्द का विवरण किया गया था किन्तु बिना जाति शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझे देश शब्द का अर्थ ठीक ठीक समझ में नहीं आ सकता है, अतः इस आन्हिक में जाति शब्द का निरूपण किया जायगा।

इन दिनों जाति शब्द का अर्थ अंग्रेजी शब्द नेशन से लिया जाता है और उसी के अनुसार जाति की परिभाषा भी दी जाती है। अतः किन्हीं के मतानुसार

"एक मत एक रीति को मानने वाला, एक भाषा बोलने वाला, एक राज्य के आधीन रहने वाला जन समुदाय जाति कहा जाता है।"

हमारे दैशिक शास्त्रानुसार यह ठीक नहीं है क्योंकि:—

(१) संस्कार और सान्निकर्षों के अनुसार मनुष्यों की प्रवृत्ति हुआ करती है, प्रवृत्ति के अनुसार रुचि होती है, रुचि के अनुसार मत होता है, किन्तु सब के संस्कार और सान्निकर्ष एक समान नहीं होते हैं; अतः भिन्न भिन्न मनुष्यों का भिन्न मत होना स्वाभाविक है, किसी को ज्ञान मार्ग, किसी को योग मार्ग, किसी को भक्ति मार्ग, किसी को कर्म मार्ग, किसी को उपासना मार्ग, किसी को और कोई मार्ग अच्छा लगता है, किसी का इष्ट ईश्वर का एक रूप, और किसी का दूसरा रूप होता है। अतः किसी परिष्कृत और उन्नति शील समाज में सब का मत एक हो नहीं सकता। क्या समस्त अंग्रेजों का वही मत है जो मिल का था? अथवा जो मत शोपनहौर का था क्या वही मत समस्त जर्मनों का है? क्या समस्त अमेरिकन अथवा निःशेष फ्रांसीसियों का एक ही मत है? इस के प्रतिपक्ष कैलास प्रांत के वनचर और असभ्य जप्पा लोगों में सब का एक ही मत पाया जाता है। किसी

सभ्य समाज के समस्त व्यक्तियों में समष्टि रूप से एक मत का प्रचार होना बिलकुल अप्राकृतिक बात है, उदार और परिष्कृत समाज का मत सम्बन्धी सिद्धांत स्वभावतः यह हुआ करता है कि

" रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनाना पथजुषां
नृणामेको गम्य स्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ "

(२) रीतियां बनती हैं देश, काल, निमित्त के अनुसार, जैसे देश, काल, निमित्त होते हैं, वैसी रीतियां प्रचलित होती हैं; किन्तु इस संसार मे देश, काल, निमित्त सर्वत्र एक समान नहीं होते हैं, अतः रीतियां भी सर्वत्र एक समान नहीं हो सकती हैं; उदाहरणार्थ शिवार्चन की जो रीति रामेश्वर में है वह कैलास में नहीं हो सकती है अथवा दुर्गापूजा की जो रीति बंगाल में है वह काशी और मथुरा में नहीं हो सकती है, हम लोगों में शस्त्र पूजन की जो रीति पहिले थी अब वह हो नहीं सकती है, जिस भारत में क्षत्रिय और वैश्य कृषि करने का उद्योग किया करते थे आज वहां ब्राह्मण राय बननेकी चेष्टा कर रहे हैं। अपरं च कहीं तो दूर के लोगों में, जिन मे कोई जातीय सम्बन्ध नहीं होता है, रीतियां एक पाई जाती हैं और कहीं एक जाति के लोगों में पृथक् पृथक् रीतियां पाई जाती हैं; इंगालिस्तान के अंग्रेज और भारत के इसाइयों में कई समान रीतियां वर्ती जाती हैं तो क्या इन समान रीतियों के वर्ते जाने से अंग्रेज और हिन्दुस्तानी इसाई एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं? कूर्माचली पन्त ब्राह्मणों में अनेक रीतियां ऐसी हैं जो उन के सगोत्र महाराष्ट्री पन्तों की रीतियों से बिलकुल भिन्न हैं तो क्या रीतियों के भिन्न होने से उन में जातित्व भी भिन्न हो गई? अतः रीतियों का एक होना जातित्व के लिये कोई आवश्यक बात नहीं है।

३—भाषा का भी जातित्व से कुछ सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि भाषा राज्य समय और साहित्य के प्रभाव से निरन्तर बदलती रहती है; जिन लोगों का राज्य होता है बहुधा उन्हीं लोगों की भाषा और साहित्य का गौरव होता है, पवन के झोंकों के साथ उड़ने वाले निःसत्व लोग उसी भाषा और उसी साहित्य में रंग जाते हैं और अपनी भाषा और अपने साहित्य को त्याग कर उस भाषा और उस साहित्य को अपना लेते हैं।

जैसा समय होता है वैसे मनुष्यों के भाव प्रवृत्ति और सन्निकर्ष होते हैं, जैसे मनुष्यों के भाव, प्रवृत्ति और सन्निकर्ष होते हैं, वैसी उन की भाषा होती है, अतः समय के परिवर्तन के साथ भाषा का परिवर्तन भी होता रहता है।

साहित्य और भाषा का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है जिस साहित्य का जितना

प्रचार होता है उतना उस की भाषा का भी प्रचार होता है। अतएव कभी एक जाति के लोगों में अनेक भाषायें और कभी अनेक जाति के लोगों में एक भाषा हो जाती है। जाति के श्रेय के लिये एक भाषा का होना चाहे आवश्यक हो किन्तु जातित्व से उस का कुछ सम्बन्ध नहीं है।

४—राज्य का भी जातित्व से कुछ सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि राज्य अत्यन्त अनिश्चित वस्तु है, यह नहीं कहा जा सकता है कि कौन राज्य कितनी भूमि में कब तक रहेगा, समयरूपी समुद्र में राज्यरूपी बबूले उठते और फूटते रहते हैं, कभी एक जाति अनेक राज्यों में विभक्त हो जाती है और कभी अनेक जातियां एक राज्य के आधीन हो जाती हैं; परन्तु इन क्षणभंगुर राज्यरूपी बबूलों का जातित्व से कुछ मतलब नहीं होता है; यथा—कलकत्ता और चन्द्रनगर के बंगाली दो भिन्न राज्यों की प्रजा होने से दो पृथक् जातियों के लोग नहीं कहे जा सकते हैं, और न अंग्रेज और हम लोग एक राज्य की प्रजा होने से एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं। मान लिया जाय कि इस महा समर में मित्र राष्ट्रों की जय हो गई और उन्होंने जर्मनी के टुकड़े कर के आपस में बांट लिये, तो क्या उन के ऐसा करने से एक जर्मन जाति की उतनी जातियां बन जाएंगी? अथवा समस्त यूरप में यदि एक छत्र राज्य हो जाय तो क्या यूरप की समस्त जातियां सिमट कर एक जाति बन जायगी? राज्य के एक होने से जाति की शक्ति अवश्यमेव बढ़ती है किन्तु जातित्व का मूल राज्य नहीं कहा जा सकता है।

यदि यह कहा जाय कि उक्त बातें यद्यपि एक एक करके जातित्व के मूल नहीं हो सकती हैं, तथापि इन का संयोग जातित्व का आधार होता है। किन्तु किसी विशाल और परिष्कृत जनसमुदाय में ऐसा संयोग होना अति कठिन होता है; क्योंकि विचारस्वातन्त्र्य होने से किसी सभ्य जनसमष्टि के मतसम्बन्धी विचार एक हो नहीं सकते हैं, देशकालनिमित्तों में भेद होने से रीतियों में भी सदा और सर्वत्र ऐक्य होना कठिन होता है, भाषा और राज्यों में भी सदा परिवर्तन होता ही रहता है। अपरञ्च उनका संयोग होते हुए भी किसी जनसमुदाय में जातित्व का अभाव होता है और किसी जनसमुदाय में उक्त संयोग के न होने पर भी जातित्व का भाव होता है। अनेक हमारे ईसाई ऐसे हैं जो अंग्रेजों के मत को मानते हैं, उनकी रीतियों को बर्तते हैं, उनके राज्य की प्रजा हैं, उन की भाषा बोलते हैं; तो क्या इन चार बातों का संयोग होने से अंग्रेज और हिन्दुस्तानी ईसाई एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं? अथवा कूर्मांचली पाण्डेय और उनके सगोत्री नैपाली पाण्डेय दो भिन्न जातियों के लोग कहे जा सकते हैं क्योंकि उनका राष्ट्र उनकी भाषा और रीतियां सब भिन्न हैं।

अतः मतसम्बन्धी, रीतिसम्बन्धी, भाषासम्बन्धी और राष्ट्रसम्बन्धी एकता जातित्व का आधार नहीं मानी जा सकती है।

किन्ही के मतानुसार

"जिस जनसमष्टि के अधिकांश व्यष्टियों के दैशिकविचारों में ऐक्य होता है उस को जाति कहते हैं"

किन्तु किसी जनसमुदाय के अधिकांश व्यष्टियों में दैशिकबुद्धि केवल अभ्युदय काल में उत्पन्न होती है, अवपात काल में अधिकांश व्यक्तियों में स्वार्थबुद्धि के कारण दैशिक विचार दबे रहते हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि ऐसी दैशिक विचार शून्य जनसमष्टि जाति कही जायगी अथवा नहीं । अपरंच निमित्त विशेष से कभी भिन्न भिन्न जातियों के अधिकांश व्यक्तियों के दैशिक विचारों में ऐक्य हो जाता है और कभी एक ही जाति के भिन्न भिन्न दलों के दैशिक विचारों में भेद हो जाता है । इस महायुद्ध में अधिकांश अंग्रेज और अधिकांश फरासीसियों के विचार बहुत कुछ एक हो गये हैं तो क्या ऐसा होने से अंग्रेज और फरासीसियों में एक जातित्व उत्पन्न हो गई ? अथवा भिन्न भिन्न देशों के साम्यवादी अर्थात् सोस्यालिस्ट एक प्रकार के दैशिक विचार होने से क्या एक जाति के लोग कहे जा सकते हैं ? अतः दैशिक विचारों का ऐक्य भी जातित्व का मूल नहीं हो सकता है ।

किन्ही के मतानुसार

"एक अर्थ के सूत्र में गुथी हुई जनसमष्टि जाति कही जाती है"

किन्तु बहुधा यह देखने में आता है कि मनुष्यों के अर्थ असंख्य होते हैं, और देश काल निमित्त से वे सदा बदलते रहते हैं, अतः जब तक यह निश्चित न हो जाय कि वे अर्थ कौन हैं कि जिन के सूत्र में गुथे रहने से मनुष्यों में जातित्व होती है तब तक जाति शब्द की परिभाषा ठीक समझ में नहीं आसकती है । एक कठिन शब्द के स्थान में अनेक कठिन शब्दों को रख देने से कोई व्याख्या नहीं हो सकती है । यदि उक्त अर्थ शब्द का तात्पर्य मत, रीति, भाषा और राज्य समझे जांय तो यह पहिले सिद्ध हो चुका है कि इन से जातित्व का कुछ सम्बन्ध नहीं होता है, यदि उस का तात्पर्य शासन है तो जाति क्या हुई मानो गीली मिट्टी हुई; जैसे गीली मिट्टी के जितने टुकड़े चाहो उतने बन सकते हैं और जितने टुकड़ों के चाहो एक टुकड़ा बन सकता है इसी प्रकार एक जाति की अनेक जातियां और अनेक जातियों की एक जाति बन सकती है; क्योंकि कुछ नीति, कुछ शक्ति और कुछ चातुर्य्य से एक शासन सम्बन्धी अर्थ के अनेक अर्थ और अनेक शासन सम्बन्धी अर्थों का एक अर्थ हो सकता है। अकबर के चातुर्य्य ने राजस्थान केशरियों के शासन सम्बन्धी एक अर्थ को अनेक छोटे छोटे अर्थों में विभक्त कर दिया था और बिस्मार्क के कौशल ने अनेक जर्मन रियासतों के छोटे छोटे शासन सम्बन्धी अर्थों को जोड़ कर एक अर्थ बना दिया।

यह पहिले कहा जा चुका है कि देशकाल निमित्तों के अनुसार मनुष्यों के

अर्थ हुआ करते हैं, किन्तु सब मनुष्यों के देश काल निमित्त सदा एक नहीं रहा करते हैं, दो सहोदर भाइयों के देश काल निमित्तों में बहुधा ऐक्य नहीं रहता है, औरों का तो कहना ही क्या। अतः किसी जन समष्टि के सब व्यष्टियों का सदा एक अर्थ के सूत्र में गुथा रहना असम्भव बात है, प्रतिपक्ष इस के उन में अर्थ वैपर्य होना स्वाभाविक है। कुरुक्षेत्र की ओर देखिये जहां कुरु का कुरु से, गुरु का शिष्य से, पितामह का पौत्र से, मामा का भानजे से, यदुनाथ का यादव सेना से अर्थ वैपर्थ्य हो रहा है, सन् १८५७ को लीजिये जब कि कहीं तो हिन्दू और मुसलमान एक मन दो तन हो कर कम्पनी की पताका को गिरा रहे हैं, और कहीं उसी पताका को बनाये रखने के लिये हिन्दू के विरुद्ध हिन्दू, मुसलमान के विरुद्ध मुसलमान छूरा खींच रहा है; यूरप में देखिये वहां भी कहीं तो पोप के आधिपत्य में अनेक दक्षिणी राष्ट्र एक अर्थ के सूत्र में गुथ रहे हैं और कहीं एक राष्ट्र में बहिन के विरुद्ध बहिन दल बन्दी कर रही है, फ्रांस के बढ़ते हुये तेज को रोकने के लिये कभी जर्मनी की टिड्डी दल सेना इंगलिस्तान की सहायता को आरही है और कभी जर्मनी को नष्ट करने के लिये इंगलिस्तान फ्रांस की सहायता कर रहा है, एक दिन वह था जब की शार्लिमैन की पताका के नीचे समस्त इसाई रियासत एक हो कर मुहम्मदी पताका को उखाड़ देना चाहते थे और आज यह दिन है कि एक इसाई राष्ट्र मुसलमान रियासत की सहायता से दूसरे इसाई राष्ट्र को नीचा दिखाना चाहता है।

अतः अर्थैक्य भी जातित्व का आधार नहीं समझा जाता है।

जाति की इस प्रकार की और भी अनेक परिभाषाएं दी जाती हैं, जिन की विवेचना यहां नहीं हो सकती है किन्तु सार सब परिभाषाओं का जो यहां दी गई हैं अथवा जो यहां नहीं भी दी गई हैं यह है कि जातित्व कृत्रिम पदार्थ है, बनाए वह बन सकती है, बिगाड़े बिगड़ सकती है; बढ़ाये बढ़ सकती है; घटाए घट सकती है। सम्भव है कि नेशनेलिटी (Nationality) ऐसी ही कृत्रिम पदार्थ हो, नेशन (Nation) शब्द की ये परिभाषायें ठीक हों; किन्तु हमें नेशन शब्द से कुछ मतलब नहीं, हमें नेशन शब्द की व्याख्या करनी नहीं है; हमारा प्रयोजन है जाति शब्द से।

हमारे दैशिक शास्त्र के अनुसार जाति सहज सावयव आधिजीवक सृष्टि है अर्थात् मनुष्यों के कृत्रिम उपायों से जाति न तो बनती है और न नष्ट होती है उस की उत्पत्ति और विनाश भगवती प्रकृति के इच्छानुसार हुआ करता है, जो शील जो प्रवृत्तियां जीवधारी पदार्थों के हुआ करते हैं वही शील वही प्रवृत्तियां जातियों के भी होते हैं, जिन कारणों और जिन रीतियों से सजीव पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है उन्हीं कारणों और उन्हीं रीतियों से जातियों का भी आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जिस लिये जीवधारी

पदार्थों की सृष्टि होती है उसी लिये जातियों की भी सृष्टि होती है । यह कल्पना बिलकुल मिथ्या है कि सृष्टि के आदि में एक ही प्राणी अथवा एक ही मनुष्य किम्बा स्त्रीपुरुषों का एक ही मिथुन था, उसी एक मिथुन से अनेक स्त्रीपुरुष उत्पन्न होते गये, होते होते वे इतने बढ़ गये कि समस्त भूमण्डल में वे फैल गये, कालान्तर में उसी एक मैथुनिक सृष्टि के विभाग से भिन्न भिन्न जातियां बनती गई । हमारे आचार्य्यों के सिद्धान्तानुसार सृष्टि के आरम्भ में विशेष प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति को लिये भिन्न भिन्न अमैथुनिक जन समुदाय उत्पन्न हुए, कुछ समय तक ऐसी अमैथुनिक सृष्टि होती गई, इस अमैथुनिक सृष्टि में जिन की मानसिक प्रवृत्ति एक प्रकार की थी वे स्वभावतः एक साथ रहने लगे, कालान्तर में सृष्टिक्रम बदल गया, उन एक प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति वाले अमैथुनिक जनों के मिथुन से वैसे ही मानसिक प्रवृत्तिवाले जन उत्पन्न होने लगे । स्वेदज नामक अनेक जीवों की सृष्टि अब तक इसी प्रकार होती है, यूका अर्थात् जुई इस का उदाहरण है । वायु में रहने वाले विशेष प्रकार के अणु जीवों को जब स्वेद मिलता है तो शरीर में अमैथुनिक यूका उत्पन्न होती हैं । फिर उन अमैथुनिक यूकाओं के मिथुन से उसी प्रकार की वैसेही गुणवाली मैथुनिक यूका उत्पन्न होने लगती हैं । इसी प्रकार मनुष्यों की भी उत्पत्ति हुई । किन्तु अनेक प्राकृतिक निमित्तों के कारण मनुष्यों की उस आदिम मानसिक प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन हो जाता है; जिन एक प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति वाले जनों को एक प्रकार के प्राकृतिक निमित्त मिले उन की उस आदिम मानासिक प्रवृत्ति में परिवर्तन भी एक ही प्रकार का हुआ, अर्थात् उन की परिवर्तित मानासिक प्रवृत्ति भी एक ही प्रकार की रही । इस प्रकार उत्पन्न हुए समान मानासिक प्रवृत्ति वाले जिस जन समुदाय को एक प्रकार के प्राकृतिक निमित्त मिले वह हमारे दैशिक शास्त्र में जाति के नाम से कहा गया ।

जैसे व्यक्तियों में अनेक तत्त्व होते हैं एवं जातियों में भी अनेक तत्त्व होते हैं, जिन में दो तत्त्व प्रधान समझे जाते हैं एक चिति और दूसरा विराट् ।

सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक अमैथुनिक जन समुदाय की जो विशेष प्रकार की मानासिक प्रवृत्ति होती है और दायधर्मानुसार जिस को उस की मैथुनिक सन्तति प्राप्त करती है चिति कही जाती है । यह चिति जाति के प्रत्येक व्यक्ति में परम सुख की भावना रूप से रहती है, इस सुख की तुलना में वे सब सुखों को तुच्छ समझते हैं, इस के लिये वे अन्य सब सुखों को त्याग देने को सन्नद्ध रहते हैं । किन्तु यह चिति समस्त व्यक्तियों में सदा एक ही प्रकार से व्याप्त नहीं रहा करती है, अभ्युदय काल में चिति जाति के समस्त अथवा अधिकांश व्यक्तियों में व्याप्त रहती है, और अपवाद काल में केवल शुद्धवंश के कुलीन व्यक्तियों के हृदय रूपी गुफा में शरण ले लेती है, जिस व्यक्ति में जितना शुद्ध जातीय रक्त वर्तमान रहता है उस में उतना

चिति का प्रकाश होता है, जिस व्यक्ति में जितनी संकरता होती उस में उतना चिति का अभाव होता है। इस चिति की झलक जाति के प्रत्येक बात में दिखाई देती है, उस के समस्त व्यापार निःशेष चेष्टाएं अखिल कर्म इसी चिति के प्रकाश से चैतन्य रहते हैं। चिति से जाति के चरित्र का भी अनुमान हो जाता है, ऊंच नीच जैसी चिति होती है वैसे जाति में गुण भी होते हैं। जब तक चिति जागृत और निरामय रहती है तब तक जाति का अभ्युदय होता रहता है, चिति के तिरोधान होने पर अथवा उस में किसी प्रकार का विपर्यास आने से जाति का अवपात होने लगता है, चिति का लोप हो जाने पर जाति निश्चेतन देह के समान निष्प्राण, निष्क्रिय, निश्चेष्ट हो जाती है; ऐसी चिति शून्य जाति के लिये सिवाय दूसरे की भोग्य वस्तु होने के और कोई चारा नहीं रहता है। जब किसी जाति की चिति अन्तर्हित होने लगती है तो अनायास उस जाति के अवपात का अनुमान हो जाता है, तब यह जान लेना चाहिये कि उस जाति का कार्य्य पूरा हो चुका है, अब भगवती प्रकृति को उस की आवश्यकता नहीं रही; और जब किसी पतित जाति में अन्तर्लीन हुई चिति का पुनराविर्भाव होने लगता है तो यह समझ लेना चाहिये कि उस जाति का पुनरुदय होता है। यह चिति जातिरूपी शरीर में चैतन्य है, अतः हमारे आचार्यों के अनुसार एक चिति और एक प्रकार के प्राकृतिक निमित्त वाला जनसमुदाय जाति कहा जाता है।

चिति से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षात्र शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति विराट् कही जाती है। जैसे प्रकृति ने शाकाहारी जीवों को चबाने के लिये चपटे दांत और मांसाहारी जीवों को नोचने के लिये पैने नख और तीखे दांत दिए हैं, एवं उस ने आत्मरक्षा के लिये एकाकी जीवों को विशेष शारीरिक विभूति दी है और सामाजिक जीवों को एक विशेष प्रकार का सहानुभूति युक्त तेज दिया है जो व्यष्टि को समाज के हितार्थ आत्मत्याग करने को प्रेरित करता है, जिस से व्यष्टियों में परस्पर सहानुभूति रहती है और समष्टि की रक्षा के लिये व्यष्टिगत शक्ति न्यूनाधिक रूप से एकीभूत हो कर केन्द्रस्थ रहा करती है। यह विराट् व्यक्तियों के हृदय में चिति के प्रकाश से ही जागृत होता है, चिति के अन्तर्हित होने पर विराट का भी ह्रास होता चला जाता है। यह विराट् जाति रूपी शरीर का प्राण है, जैसे मनुष्य देह में समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ एक प्राण के रूपान्तर होती हैं एवं जाति की समस्त दैशिकचेष्टाएं उसी एक विराट् की रूपान्तर होती हैं; जैसे शरीर में जब तक प्राण रहता है तब तक उस में अन्नादि से बल सञ्चय होता रहता है, किन्तु प्राण के चले जाने पर जैसे शरीर के तत्त्व अपने काम में न आकर किसी दूसरे शरीर के काम में आते हैं; एवं जब तक जाति में

विराट् रहता है तब तक देवता उस को अपनी अपनी शक्ति दिया करते हैं, किन्तु विराट् के चले जाने पर वह जाति शक्ति हीन हो जाती है उस के बल, बुद्धि अपने काम में न आकर किसी दूसरी जाति के काम में आने लगते हैं। जब तक विराट् ठीक रहता है तब तक जाति का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और जब मिथ्या आचार विचार से अथवा उस के प्रलयक्रम के उपस्थित होने से विराट् में गड़बड़ होने लगती है तो जातिरूपी शरीर में स्वार्थरूपी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है उसके सब अंग निस्तेज और निस्सहानुभूति हो जाते हैं, सब को अपनी अपनी सूझने लगती है, वह सरासर निर्बल होता जाता है उससे प्रतिरोध शक्ति जाती रहती है, प्रतिरोध शक्ति के चले जाने पर वह दोषों से अनायास आक्रान्त हो जाता है, उस में अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होने लगती हैं, दिन प्रति दिन उसका पतन होता जाता है।

जैसे भिन्न भिन्न कार्य्य के लिये प्राण शरीर में भिन्न भिन्न प्रकार के इन्द्रिय, उपइन्द्रिय, अवयव और उपअवयव उत्पन्न करके उन के द्वारा भिन्न भिन्न रूप से स्वयं काम करता है; एवं भिन्न भिन्न कार्य्य के लिये विराट् जाति में भिन्न भिन्न प्रकारके वर्ण और उपवर्ण अर्थात् भिन्न भिन्न प्रवृत्ति के लोगों को उत्पन्न करके उनके द्वारा भिन्न भिन्न रूप से आप काम करता है। जब तक जाति के उक्त अवयव अपने अपने कार्य्य में तत्पर रहते हैं तब तक उसका अनामय बना रहता है, प्रतिकूल कारणों से उस में विपर्य्यास नहीं पड़ सकता है, किन्तु स्वार्थवशात् जब वे अंग अपने अपने कर्त्तव्य से मुख मोड़ने लगते हैं तो उसकी वही दशा होती है जो इन्द्रियों के अपना अपना काम छोड़ देने से शरीर की होती है। विराट् के तेज से ही वर्ण और उपवर्ण अपने अपने कार्य्य में तत्पर रहते हैं, उसके तिरोधान होने पर उन में स्वार्थ आ जाता है, प्रत्येक वर्ण अपने धर्म को त्यागना और अन्य वर्णों की विभूति को लेना चाहता है।

प्रत्येक जाति भगवती प्रकृति के किसी न किसी कार्य्य विशेष के लिये उत्पन्न होती है, जब वह कार्य्य हो चुकता है तो प्रकृति को उस की आवश्यकता नहीं रहती है तब उस का अन्तर्धान अथवा लोप हो जाता है। जैसे किसी कार्य्य विशेष के लिये, जिसे हम नहीं जानते हैं, जिसे कोई जगत् की अभ्युन्नति और कोई उस की पुनरावृत्ति कहते हैं, महामाया ने पशुपक्षी और वनस्पति की भिन्न भिन्न जातियां उत्पन्न की हैं; एवं उसने कार्य्य विशेष के लिये मनुष्यों की भी भिन्न भिन्न जातियां उत्पन्न की हैं, जब किसी जाति का कार्य्य हो चुकता है तो उस का अन्तर्धान अथवा लोप हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि कब किस जाति का अन्तर्धान होता है और कब किस जाति का लोप होता है? जब किसी जाति का कार्य्य एक बार हो चुकता है और भविष्य में अनेक बार फिर उस की आवश्यकता होनेवाली होती है तो उस जाति

का अन्तर्धान होता है, जब किसी जाति का कार्य्य एक बार हो चुकता है और भविष्य में उसकी आवश्यकता नहीं रहती है तो उस का नाश हो जाता है, उस में शुद्धवंश वाले लोग रह नहीं सकते हैं, उस से संकर जातियां उत्पन्न होने लगती हैं। जैसे संसार में अनेक ओषधियां ऐसी होती हैं जिन की आवश्यकता प्रकृति को बीच बीच में होती है किन्तु निरन्तर नहीं, जिस बीच में प्रकृति को उन की आवश्यकता होती है उस बीच प्राण उन में जागृत रहता है जिससे वे हरे भरे रहते हैं और जिस बीच प्रकृति को उनकी आवश्यकता नहीं रहती है उस बीच ऊर्ज्ज उन में अन्तर्लीन हो जाता है जिससे वे नीरस और नंगे हो जाते हैं। एवं अनेक जातियां ऐसी होती है जिन का बार बार उदय और बार बार अवपात होता रहता है, जब प्रकृति उन से कोई काम लिया चाहती है तो उन में चिति और विराट् प्रकट हो जाते हैं, जिससे उन जातियों में अनेक प्रकार के रथी और महारथी उत्पन्न होते हैं, जिन के कारण वे जातियां बड़ी प्रतापशालिनी हो जाती हैं, सर्वत्र उन की मानपताका फहराने लगती है और जब वे काम जिन के लिये वे जातियां उत्पन्न हुई थीं हो चुकते हैं तो फिर उस बीच प्रकृति को उन की आवश्यकता नहीं रहती है, अतः उस बीच उन जातियों की चिति और विराट् अन्तर्लीन होने लगती हैं जिससे उन जातियों में महापुरुषों का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है, और जो उत्पन्न हो बैठते हैं वे अल्पायु होते हैं अथवा अनुकूल निमित्तों के न मिलने के कारण वे सदा निष्फल प्रयास होते हैं, वीर, मनस्वी और कुलीन लोग पीछे पड़ जाते हैं, भीरु छद्मचारी और नीच लोग अग्रसर हो जाते हैं जिससे जाति निस्तेज और छिन्न भिन्न हो जाती है, शुद्धवंश के श्रेष्ठ व्यक्तियों में चिति भस्म से ढके हुए स्फुलिंग के समान वर्तमान रहती है, अनुकूल निमित्तों के उपस्थित होने पर इसी चिनगारी से फिर समस्त जाति तेजोमय हो कर जाग उठती है, उस में विराट् का पुनः संचार होने लगता है, उस में फिर वैसे ही वीर महात्मा जन्म लेने लगते हैं, जाति में उन का मान होने लगता है वे ही अग्रसर माने जाते हैं। किन्तु ऐसी जातियां संसार में बहुत कम होती हैं कि जिन की आवश्यकता प्रकृति को बार बार होती रहती है, अधिकतर ऐसी ही जातियां होती हैं कि जिन की आवश्यकता प्रकृति को एक ही बार होती है। जब वह कार्य्य, कि जिस के लिये ऐसी जातियां उत्पन्न होती हैं, हो चुकता है तो उन में अत्यन्त कामुक दौर्बल्य आ जाता है जिस के कारण उन में अन्य जातियों के संसर्ग से सङ्कर जातियां उत्पन्न होने लगती हैं, फिर उन सङ्कर जातियों का अन्य सङ्कर जातियों से संसर्ग होने से एक दूसरी नवीन सङ्कर जाति उत्पन्न होती है, ऐसा अनेक बार होने से कालान्तर में उन आदि जातियों की चिति, गुण और पिण्ड का पूर्णतया अभाव होकर भिन्न चिति, भिन्न गुण और भिन्न पिण्ड वाली एक बिलकुल नवीन जाति उत्पन्न हो जाती है।

भगवती महामाया के राज्य में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, कोई दो क्षण ऐसे नहीं होते हैं कि जो एक समान हों, सदा नई सृष्टि, नई बात, नये नये जीवों की उत्पत्ति और पुरानों का लोप होता जाता है; इसी प्रकार नवीन मानव जातियों का आविर्भाव और प्राचीनों का तिरोभाव होता रहता है। यह भगवती प्रकृति का सनातन नियम है।

जातियों के उदयावपात के पूर्व विराट् का उदयावपात हो जाता है, विराट् का उदयापवात होता है चिति के आविर्भाव और तिरोभाव से, चिति ही जातित्व का मूलतत्त्व होता है, इसी चिति के द्वारा व्यक्ति के सुख दुःख जाति के सुख दुःखों से सम्बद्ध होते हैं। किसी जाति के शुद्धवंशवाले किन्ही दो व्यक्तियों को लीजिये, चाहे एक राजा और दूसरा रङ्क हो, उन दोनों की प्रवृत्ति, मानसिक अवस्था और सुख दुःख समान पाये जाएंगे, चाहे एक को अनायास दिव्य भोजन मिलता हो और दूसरे को कष्ट से रूखासूखा अन्न प्राप्त हो; किन्तु इस भोजन भेद से उन की प्रवृत्ति और मानसिक अवस्थाओं में कुछ भेद नहीं होता है। भोजन पर पशुओं के सुखदुःख निर्भर होते हैं, मनुष्यों के सुखदुःख निर्भर होते हैं चिति पर।

चिति के अनुसार जाति के गुण होते हैं, जिस प्रकार की चिति होती है, उस प्रकार की जाति की वाञ्छा, उस प्रकार का उस का स्वभाव, वैसी उस की आयु, वैसा उस का प्रभाव होता है।

चिति दो प्रकार की होती है एक दैवी और दूसरी आसुरी।

विषय सुखों से श्रेष्ठ सुखवाली चिति दैवी चिति कही जाती है।

विषय सुखवाली चिति आसुरी चिति कही जाती है।

दैवी चितिवाली जाति के गुण सात्विक, वाञ्छा विश्वजन्याबुद्धि, स्वभाव ऊंचा, आयु दीर्घ, प्रभाव श्रेष्ठ गुणोत्पादक होता है। ऐसी जाति की आवश्यकता प्रकृति को बार बार हुआ करती है, ऐसी जाति में अधोलिखित विशेषता होती है:—

(१) बुरे दिनों के आने और विकार हेतुओं के उपस्थित होने पर अपनी जाति शुद्धि को बनाए रखना।

(२) अन्य जातियों से सदा भेद भाव बनाए रखना, श्रेष्ठ जातियों में यह गुण प्रधान रूप से होता है। अतः सिकन्दर के दिग्विजय के लिये पूर्व की ओर प्रस्थान करते समय अरिष्टोटल ने उस को अन्य जातियों से भेद भाव बनाए रखने का मुख्य उपदेश किया था।

(३) शुद्धवंशवालों का अधिक होना अर्थात् ऐसे लोगों की संख्या अधिक होना कि जिन में अन्तर्लीन हुए चिति के संस्कार वर्तमान रहते हैं।

(४) जाति सङ्करों की अपेक्षा कुलीनों का अधिक सद्गुणी होना।

(५) अभ्युदय काल में दैवी सम्पद् और समीकरण शक्ति का होना।

(६) अवपात काल में तितिक्षा और प्रतिरोध शक्ति का होना।

(७) समृद्धि और विपत्ति से चिति का विकृत न होना।

(८) विजातीय उत्कर्ष से चिति का दूषित न होना।

आसुरी चितिवाली जाति के गुण राजस्, वाञ्छा विषय भोग, स्वभाव नीच, आयु अल्प, प्रभाव नीचगुणोत्पादक होता है। ऐसी जातियों में अधोलिखित विशेषता होती है:—

(१) जाति शुद्धि को बनाए रखनेकी शक्ति का न होना।

(२) अन्य जातियों से भेदभाव बनाये रखने की शक्ति न होना।

(३) जाति सङ्करोंका अधिक होना, अर्थात् ऐसे लोगों की संख्या अधिक होना कि जिन में चिति का लोप हो गया हो।

(४) कुलीनों की अपेक्षा जातिसङ्करों का अधिक सद्गुणी होना।

(५) अभ्युदयकाल में आसुरी सम्पद् और प्रत्याकरण का होना।

(६) अवपातकाल में अतितिक्षा और प्रतिरोध शक्ति का अभाव होना।

(७) समृद्धि और विपत्ति से चिति का विकृत हो जाना।

(८) विजातीय उत्कर्ष से चिति का दूषित हो जाना।

एक समय उदय सब का होता है, अतः ऐसी जाति का भी एक समय उदय होना साधारण बात है, किन्तु इसका उदय उल्का के समान संसार की पीड़ा के लिये होता है, ऐसी जातिका उदय एक ही बार होता है, वह भी थोड़े दिनों के लिये। भगवती प्रकृति ऐसी जाति का नाश कभी तो उसकी परिपन्थी जाति को प्रबल करके करती है, कभी उसकी बुद्धि को भ्रष्ट करके, कभी उस के व्यक्तियों को विरस्थ और अल्पायु कर के, कभी उस जाति के कुलीन व्यक्तियों को वन्ध्य करके, कभी दूसरी जाति के समागम द्वारा उसमें जाति सङ्करों को उत्पन्न करके, कभी और किसी अन्य उपाय से।

हमारे दैशिकशास्त्रानुसार देश और जाति के अर्थों को मनन करने से यह तात्पर्य पाया जाता है कि देशरूपी वस्त्र को धारण किये हुये जाति रूपी शरीर की आत्मा चिति है। जाति की संक्षेप विवेचना हो चुकी है, विशेष विवेचना इस की उत्तरार्द्ध में की जावेगी।

इति दैशिक-शास्त्रे दैशिकधर्मव्याख्यानाध्याये
जाति निरूपणो नाम द्वितीयान्हिकः।

तृतीय आन्हिक

दैशिकधर्मका अर्थ

पहिले यह कहा जाचुका है कि देश की रक्षा अथवा जाति की धारणा करने वाला कर्म दैशिक धर्म अथवा जातिधर्म कहा जाता है, और यह भी कहा गया है कि बिना किसी जाति से मातृक सम्बन्ध हुए कोई भूमि देश नहीं कही जाती है, बिना चिति और विराट् के जागृत हुए किसी जाति का अभ्युदय नहीं हो सकता है। अतः तात्पर्य यह हुआ कि चिति और विराट् की धारणा जिस कर्म से होती है यथार्थ में वही दैशिकधर्म अथवा जातिधर्म है, न कि जड़ भूमि का प्रेम अथवा उस की हितेच्छा।

बहुत दिनों तक किसी स्थान में रहजाने से उस में प्रेम हो जाना स्वाभाविक बात है, मनुष्यों का तो कहना ही क्या तिर्य्यग्जाति में भी ऐसा प्रेम पाया जाता है, स्वाभाविक अवस्था में सभी प्राणियों को अपने देश, अपनी जाति से प्रेम होता है, उनके हित की इच्छा भी स्वाभाविक होती है; किन्तु यह प्रेम, यह हितेच्छा दैशिकधर्म अथवा जातिधर्म नहीं हो सकते हैं; नहीं तो बिल्ली और कौवे भी आदर्श रूप देशभक्त समझे जायंगे। क्योंकि इन के समान स्थानप्रेम और किसी जन्तु में नहीं पाया जाता है। अपरञ्च यदि नेपाल में चीन का अधिकार हो जाय और चीनिए वहां से हमारे नेपाली लोगों को निकाल कर उसको अपने लिये भोगवती के समान रमणीय बनाना चाहें, यदि कोई नैपाली इस काम में चीनियों की सहायता करे तो क्या उसका यह काम दैशिकधर्म कहा जा सकता है? अथवा कोई अंग्रेज इंगलिस्तान के नन्दनवन के समान पार्कों को उजाड़ कर, उस के कुबेर के समान भण्डार को खाली करके, विश्वकर्मा के समान उस के कारखानों को बन्द कर के भी अपनी जाति की चिति और विराट् की रक्षा करे तो क्या उस को कोई देशद्रोही कह सकता है?

जाति के लिये भोगविलासों की प्राप्ति भी दैशिकधर्म अथवा जातिधर्म नहीं कहा जाता है। क्योंकि:— भोगविलासों से किसी देश की रक्षा अथवा जाति की धारणा नहीं हो सकती है; अपरञ्च विराट् हीन जाति को भोग प्राप्त हो नहीं सकते हैं, दैवात् यदि ऐसा हो भी जाय तो वह उन का क्षेम नहीं कर सकती है, यदि ऐसा हो भी जाय तो उन से जाति में तमोगुण उत्पन्न हो जाता है। विराट् के उदय होने पर भोग विलास स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं और उस के तिरोधान हो जाने पर वे स्वयं चले जाते हैं। विराट् की उपेक्षा कर के जातिका हित साधन करना ठीक ऐसा है कि जैसा प्राणोंकी उपेक्षा कर के शरीरको निरामय रखना।

शासनपद्धति की खींचातानी से भी जाति का यथार्थ हित नहीं हो सकता है; क्योंकि देश का हित शासकों पर निर्भर होता है न कि शासनपद्धतियों पर, सब इस बात को मानेंगे कि राम का राजसत्ताक राज्य (मौनार्की) रावण के प्रजासत्ताक (डिमक्रसी) राज्य की अपेक्षा शतधा और सहस्रधा श्रेयस्कर होगा। चिति और विराट् के जागृत होने पर शासक सदा योग्य होते हैं चाहे शासनपद्धति किसी प्रकार की हो और तद्विपरीत अवस्था में शासक सदा अयोग्य होते हैं शासन चाहे दाय पद्धति से हो अथवा प्रतिनिधान पद्धति से।

किसी बढ़ी हुई अन्य जाति का अनुकरण करना भी दैशिकधर्म नहीं कहा जाता है। इस अप्राकृतिक उपाय से बरन् उलटी हानि होती है; क्योंकि इससे अपनी चिति उस दूसरी जाति की चिति से आक्रान्त हो जाती है और अपना विराट् निराधार होकर त्वरित-गति से शिथिल होने लगता है। जिससे प्राकृतिक रीति से विलम्ब से होने वाला अवपात त्वरित गति से होने लगता है। बहुधा यह देखा गया है कि अभ्युदय काल में कोई जाति दूसरे के रंग में नहीं रंगती है, केवल अवपात काल में दबी हुई जाति दूसरी उन्नत जातियों का अनुकरण करती है जब कि उस पतनशील जाति में प्रतिभाहीन, व्यवसाय शून्य, आक्रान्तधी, छद्मचारी, स्वार्थपरायण, लोकाचार की बयार में उड़ने वाले लोग उत्कर्ष प्राप्त करने लगते हैं।

हमारे आचार्यों के अनुसार देश अथवा जाति का श्रेय होता है केवल चिति और विराट् की धारणा से और तत्प्रतिकूल कारणों का नाश करने से। किन्तु चिति में कोरा प्रेम होने से ऐसा नहीं हो सकता है, यह होता है केवल कर्म करने से। यह स्मरण रहना चाहिये कि धर्म शब्द से कर्म प्रवृत्ति की सूचना होती है न कि मानसिक अवस्था की; अर्थात देशहित की इच्छा मात्र होना दैशिकधर्म नहीं कहा जाता है, दैशिकधर्म उच्च कोटि का कर्मयोग है।

कर्मयोग कहते किसे हैं? फल की इच्छा को छोड़ कर जो कर्म किया जाता है साधारणतः उस को कर्मयोग कहते हैं। किन्तु विक्षिप्त के समस्त कर्म बिना किसी फलेच्छा के होते हैं, तो क्या वह कर्मयोगी कहा जा सकता है? अथवा बिना फल की इच्छा किये इधर उधर घूमा करना अथवा ओम् तत् सत् कह कर सारे दिन देवार्चन और स्वाध्याय में लगा रहना कर्मयोग कहा जा सकता है? गीता में क्या ऐसे ही कर्मों के लिये कहा गया है कि:—

> नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
> स्वल्पमप्यस्यधर्मस्य त्रायते महतोभयात्॥"

कर्मयोग ऐसे कर्मों को कहते हैं कि जिन से प्राक्तन संस्कारों का नाश होवे और नवीन संस्कार बनें नहीं, किन्तु ऐसा तभी हो सकता है कि जब रजोगुण का ह्रास

किया जावे, रजोन्हास होता है ऐसे कर्मों के करने से जिन में त्याग ओज और विवेक का संयोग हो । त्यागसे अर्थात् फलेच्छारहित कर्मों के करने से चित्त में राग उत्पन्न होने नहीं पाता है; निराधार होने से रजोगुण का न्हास होने लगता है; अपरञ्च ऐसे कर्मों के करने से चित्त में नवीन संस्कार भी उत्पन्न नहीं होते हैं। जब मनुष्य कोई कर्म करता है तो उस में कुछ न कुछ प्राक्तन संस्कार काम में आकर नष्ट हो जाते हैं, जिस कोटी का कर्म होता है, तदनुसार प्राक्तन संस्कार भी नष्ट होते हैं; अर्थात् निस्तेज कर्मों के करने से बहुत कम प्राक्तन संस्कार नष्ट होते हैं और अत्यन्त तेजस्वी कर्मों के करने से जन्मजन्मान्तर के संस्कार उमड़ आते हैं। अतः बिना ओजस्वी कर्मों को किये कर्मयोग नहीं हो सकता है। विवेक की आवश्यकता इस लिये होती है कि अविक्षिप्त मनुष्य का कोई काम चाहे उस में फलाशा हो अथवा न हो बिना उद्देश और विधान के नहीं होता है। उद्देश और विधान दो दो प्रकार के होते हैं:—

(१) दैव और आसुर।

जिस में साधुओं का परित्राण, दुष्टों का नाश, धर्म की संस्थापना और अधर्म का उच्छेद हो उसे दैव उद्देश्य कहते हैं।

जिस से देशकाल निमित्त के अनुसार उद्देश्य का साधन सुकर हो, वृथा प्राणक्षय न हो उसे दैव विधान कहते हैं।

दैव विधान से दैव उद्देश्य के साधन में लगे रहने से सत्व विकाश होता है।

दैव उद्देश्य और दैव विधान के विपरीत लक्षण वाले उद्देश्य और विधान को आसुर-उद्देश्य और आसुर विधान कहते हैं।

आसुर उद्देश्य और आसुर विधान से सत्व संकोच होता है।

बिना विवेक के उद्देश्य और विधान की पहिचान नहीं हो सकती है। अतः बिना विवेक के कर्मयोग नहीं हो सकता है।

किन्तु यथार्थ दैशिक धर्म में भी त्याग ओज और विवेक की आवश्यकता होती है; क्योंकि जब चिति और विराट् के क्षीण होने से धर्म की ग्लानि, जाति का अवपात, साधुओं को कष्ट, दुष्टों का उदय होने लगता है, राजा से रंक तक प्रायः सब की प्रवृत्ति निम्नगा हो जाती है, तो ऐसे समय रूपी प्रवाह के प्रतिकूल अनेकों की अप्रसन्नता रूपी तूफान की परवाह न करके, बिना उतराई की आशा के, जान बूझ कर अपने को पिशुन और अवसर्प रूपी नाकों और सुइसों के बीच डाल कर अचेत सोए हुए अथवा उन्मत्त लोगों से भरी हुई जाति रूपी नाव को संशयरूपी भौंरों से बचाते हुए पार लगाने की चेष्टा करना कितना त्याग ओज और विवेक का काम है। अतएव कहा गया है कि दैशिकधर्म उच्च-कोटि का कर्मयोग है।

दैशिकधर्म के लिये दो और बातों की आवश्यकता होती है एक स्वाचिति प्रकाश की और दूसरी दैशिकशास्त्र के ज्ञान की।

जब तक मनुष्य में चिति का प्रकाश नहीं होता है तब तक उस से जाति में विराट् की जागृति नहीं हो सकती है। विराट् की जागृति हुए बिना कभी किसी जाति का हित हो नहीं सकता। सम्भव है कि ओज और विवेक के संयोग से चिति शून्य मनुष्य का स्वार्थ सिद्ध हो जाय, किन्तु जाति का इस से कुछ श्रेय नहीं होता है, वरन् उलटी हानि होने की सम्भावना रहती है।

जैसे शारीरिक निरामय के लिये वैद्यकशास्त्र की आवश्यकता होती है, वैसे जातीय निरामय के लिये दैशिकशास्त्र की भी आवश्यकता होती है, बिना इस शास्त्र के ज्ञान के दैशिकविषयों में हाथ डालना ठीक ऐसा होता है कि जैसा वैद्यकशास्त्र के ज्ञान के बिना किसी की चिकित्सा करना, बिना निदान और निघण्टु का ज्ञान हुए केवल हितेच्छा से कोई औषध दे देने से काम नहीं चल सकता है, ऐसी चिकित्सा से रोगी को लाभ के बदले हानि होने की अधिक सम्भावना होती है, एवं बिना दैशिकशास्त्र को जाने केवल हितकामना से कोई देशसम्बन्धी काम कर देने से देश को लाभ नहीं हो सकता है वरन् उलटी हानि होती है। भेद केवल इतना है कि आयुर्वेद के ज्ञान के बिना चिकित्सा करने से दो चार व्यक्तियों की हानि होती है, किन्तु दैशिक शास्त्र के ज्ञान के बिना दैशिक विषय में हाथ डालने से समस्त जाति का अहित होता है।

अत एव हमारे शास्त्रों मे दैशिकशास्त्र सब से प्रधान समझा जाता था, हमारी भिन्न भिन्न स्मृति रूपी नदियाँ भिन्न भिन्न मार्ग से उसी एक दैशिकशास्त्र रूपी सागर में जाकर गिरती थीं। अतः प्राचीन काल में यह शास्त्र सब को पढ़ना पड़ता था, इसका अध्ययन अनिवार्य्य समझा जाता था, इसका समष्टिगत प्रचार करने के लिये अनेक उपाय काम में लाये जाते थे। इसी शास्त्र के प्रताप से हम ने युनान के ज्ञान संभालने के बहुत पहिले इस विशाल भारत में वह समाज रचना कर दिखाई थी कि जिसको प्लेटो और अरिष्टोटल आदर्श रूप समझते थे, जिस को वे छोटे युनान में न कर सके, जिसके लिये वर्त्तमान सोश्यालिस्ट लार टपका रहे हैं; इसी शास्त्र की कृपा से अनादि काल से हम उन दैशिक सिद्धान्तों को बरतते चले आ रहे हैं कि जिन को शताब्दियों का अनुभवशाली चतुर इंगलिस्तान आज इस महासमर में सीख रहा है। ऐसा सुन्दर दैशिकशास्त्र या तो लाखों करोड़ों वर्षों का अनुभव का परिणाम अथवा समाधिजन्य ज्ञान का फल होना चाहिए; क्योंकि बहुधा यह कहा जाता है कि दैशिकशास्त्र का आधार होता है इतिहास, अनेक वर्षों में जब कारण विशेष उपस्थित होते हैं तब कोई ऐतिहासिक घटना होती है, अनेक ऐसी घटनाओं के मन्थन से कुछ ऐतिहासिक

सिद्धान्त निकलते हैं, और फिर अनेक ऐसे सिद्धान्तों के मन्थन से कुछ दैशिक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, अनेक ऐसे सिद्धान्तों के संग्रह से दैशिकशास्त्र की उत्पत्ति होती है, और फिर इस शास्त्र के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने में अनेक शताब्दियाँ बीत जाती हैं, और अनेक वर्षों में इस व्यवहार में निष्ठा होती है। इससे अनुमान हो सकता है कि हमारा दैशिक शास्त्र कितनी शताब्दियों का अनुभव होगा। यदि यह कहा जाय कि हमारे दैशिकशास्त्र का आधार इतिहास नहीं हो सकता है, क्योंकि हमारे पूर्वजों में इतिहास लिखने की प्रथा नहीं थी, तो यह मानना पड़ेगा कि उसका आधार समाधिजन्य ज्ञान था। जिस शास्त्रका आधार समाधिजन्य ज्ञान हो उससे श्रेष्ठ और कोई शास्त्र हो नहीं सकता है। उसका आधार चाहे इतिहास हो अथवा समाधिजन्य ज्ञान, उभयतः यही सिद्ध होता है कि हमारे दैशिकशास्त्र से उत्तम दैशिकशास्त्र होना प्रायः असम्भव है। हमारे देश में बहुत समय तक इस शास्त्र का प्रचार रहा, कालान्तर में इस शास्त्र की विस्मृति हो गई, इसकी शाखा और प्रशाखा रूप अन्य शास्त्रों में बिखरे हुए इसके सिद्धान्त दिखाई देने लगे। ऐसा हो जाना कोई अनोखी बात नहीं है भगवती प्रकृति का यह सनातन नियम है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे इस शास्त्र के अनुसार चिति और विराट की धारणा और तत्प्रतिकूल कारणोंका नाश करने वाले कर्म को दैशिक धर्म अथवा जातिधर्म कहते हैं।

इति दैशिक—शास्त्रे दैशिक—धर्म व्याख्यानाध्याये
दैशिकधर्म विवृति नाम तृतीयान्हिकः

स्वातन्त्र्याध्याय ।

प्रथम आन्हिक ।

स्वतन्त्रता का अर्थ ।

पूर्व अध्यायों के अनुसार दैशिकधर्म कोई साधारण बात नहीं है, यह बहुत बड़ा काम है जिससे आध्यात्मिक आमुष्मिक और ऐहिक सब अर्थ सिद्ध होते हैं; किन्तु कोई बड़ा काम स्वतन्त्रताके बिना नहीं हो सकता है, जिस कोटिका काम होता है उस कोटि की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिये, मनुष्य जितना स्वतन्त्र होता है उतना उस में पौरुष और योग्यता होती है और जितना वह परतन्त्र होता है उतना वह पुरुषार्थ हीन और अयोग्य होता है । सांख्याचार्यों के मतानुसार बद्ध पुरुष बड़े काम नहीं कर सकते हैं, न्यायाचार्यों के मतानुसार कर्त्ता स्वतन्त्र होना चाहिये; यवनाचार्य अरस्तू के मतानुसार परतन्त्र मनुष्य दैशिक बुद्धिशून्य होता है, वह बिना दूसरों के चलाए स्वयं अच्छा काम नहीं कर सकता है, जर्मन आचार्य निट्शे की कल्पनानुसार भी संसार के भावी सञ्चालक, जिनको वे अतिमानुष कहते हैं स्वतन्त्र जीव होवेंगे । कर्मवाद के पक्ष से बिना स्वतन्त्रता के कोई बड़ा काम नहीं हो सकता है ।

आनन्द वाद के पक्ष से भी बिना स्वतन्त्रताके कभी किसीको आनन्द हो नहीं सकता है, स्वतन्त्रतामें जैसी घटती बढ़ती होती रहती है आनन्दमें भी वैसी घटती बढ़ती होती रहती है; अर्थात् आनन्द और स्वतन्त्रता एक ही पदार्थ हैं, जहां पूर्ण स्वतन्त्रता वहां पूर्ण आनन्द और जहां पूर्ण परतन्त्रता वहां पूर्ण दुःख । वेदान्ताचार्यों के मतानुसार माया से स्वतन्त्र होजाना ही सच्चिदानन्द भाव कहा जाता है, योगाचार्यों के सिद्धान्तानुसार भी पुरुष का प्रकृति से स्वतन्त्र हो जाना कैवल्यपद कहा जाता है।

अतः दोनों कर्मवाद और आनन्दवाद से दैशिकधर्म के लिए स्वतन्त्रता का अनिवार्य होना सिद्ध होता है।

मत समझिए कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से हमारी दृष्टि स्वतन्त्रता की ओर जाने लगी; जो जाति भगवती प्रकृति के भी आधीन रहना नहीं चाहती है, जिस जाति का लक्ष्य निःशेष बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्य प्राप्त करना है, संसार में कौन उस जाति को स्वतन्त्रता की शिक्षा दे सकता है । हमारे पूर्वजों

के समान स्वतन्त्रता को आज तक किसीने न समझा और न शताब्दियों तक किसी के समझने की सम्भावना दिखाई देती है।

अब मीमांसा इस बात की है कि स्वतन्त्रता है क्या पदार्थ? हमारे आचार्यों के मतानुसार स्वतन्त्रता उस अवस्था को कहते हैं कि जब अपना हित किसी प्रकार किसी के हाथ में न हो कर सर्वत्र और सर्वथा अपने हाथ में हो। किन्तु मनुष्य चोले में ऐसी अवस्था पूर्णरूप से प्राप्त हो नहीं सकती है; क्योंकि भगवती प्रकृति ने मनुष्य को देव और पशु के बीच की अवस्था दी है। देवावस्था में सङ्कल्प मात्र से प्रकृति भोगों को उपस्थित कर देती है, और पाशवावस्था में प्रकृति के दिए हुए भोगों को भोगने के लिये भी दूसरों के मुख ताकना पड़ता है। इन दो अवस्थाओं की मध्य कोटि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था कही जाती है, जब मनुष्य इस अवस्था से ऊंचा जाने लगता है तो वह दैवत्व को और जब वह इससे नीचा गिरने लगता है तो वह पशुत्व को प्राप्त करने लगता है। देवावस्था और पाशवावस्था की मध्यवर्तिनी मनुष्य की उक्त प्राकृतिक अवस्था, कि जिस में उस के प्राकृतिक हित में किसी प्रकार का बाह्याभ्यन्तरिक हस्ताक्षेप नहीं होता है, मानवी स्वतन्त्रता कही जाती है।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य का प्राकृतिक हित क्या है? इसको जानने के लिये चार बातें स्मरण रखनी चाहिएः—

(१) जगत जननी प्रकृति ने मनुष्यों को सामाजिक जीव बनाया है अर्थात् ऐसा जीव कि वे अकेले रह नहीं सकते हैं; बिना एक साथ रहे उनका निर्वाह नहीं हो सकता है; किन्तु चिति भेद से उन को इस प्रकार विभक्त भी कर दिया कि दो भिन्न जातियां एक संग निश्चिन्त और सुखपूर्वक नहीं रह सकती हैं, उन में से एक भोक्ता और दूसरी भोग्य हो जाती है, एक का उदय दूसरी के अवपात पर निर्भर हो जाता है।

(२) चिति का विराट् से, विराट् का जाति से, जाति का व्यक्ति से वही सम्बन्ध रहता है जो चैतन्य का प्राण से, प्राण का शरीर से, शरीर का अंग से रहता है; जैसे बिना चैतन्य और प्राण के ठीक रहे शरीर ठीक नहीं रहता है और बिना शरीर के ठीक रहे उस का कोई अंग सुखी नहीं रह सकता है, एवं बिना चिति और विराट् के जागृत हुए जाति का श्रेय नहीं हो सकता है और बिना जातीय श्रेय के व्यक्तिगत श्रेय नहीं हो सकता है, और जैसे प्राण के ठीक रहते हुए यदि किसी अंग में कुछ क्षति हो जाय अथवा उस में कोई रोग हो जाय तो शीघ्र ही वह क्षति भर जाती है और रोग दूर हो जाता है, यदि प्राण-क्रिया ठीक न हो तो वह क्षति और वह रोग दिन दिन बढ़ते जाते हैं,

एवं चिति और विराट् के उदयावपात से जाति और व्यक्ति के सुखदुःखों का भी उदयावपात होता है।

(३) प्राक्तन संस्कारों का प्रतिबिम्ब मनुष्यों में अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक व्यक्त रहता है जिसके कारण उन में अन्य प्राणियों की अपेक्षा गुणभेद और अर्थवैषम्य अधिक होता है और इसी लिये उन में सर्वथा एकरसवाहिता नहीं हो सकती है।

(४) मनुष्य में अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा इच्छा अधिक प्रबल होती है जो समुद्र के समान कभी भरती नहीं, दावानल के समान सदा बढ़ती रहती है, पवन के समान कभी शान्त नहीं होती; अपरंच प्रकृति ने उस के लिये वह उदारता नहीं दर्शायी है जो उस ने अन्य जीवों के लिये की है; अतः अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्यों में पंचेन्द्रिय और कामादि षड् मनोविकार अधिक प्रबल रहते हैं।

इन पूर्वोक्त चार प्राकृतिक नियमोंको मिला कर यह सिद्धान्त निकलता है कि अपनी चिति और विराट् का योगक्षेम करना, दैशिकधर्म को निभाते हुए, बिना किसी को हानि पहुंचाए अपना व्यक्तिगत हित साधन करना और उक्त दो कार्य्यों के विघ्नों को हटाना मनुष्य का प्राकृतिक हित कहा जाता है।

मनुष्य के प्राकृतिक हित की व्याख्या से मानवी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का अर्थ अच्छी तरह समझ में आसकता है; और यह भी सिद्ध होता है कि मन में जो इच्छा उठे अथवा अपनी समझ में जो बात अच्छी हो उसके साधन में किसी का हस्तक्षेप न होने से सदा मनुष्य का प्राकृतिक हित नहीं होता है, और अपनी इच्छा और हित को पीछे रख कर दूसरे की इच्छा और हित के अनुसार चलने से सदा मनुष्य के प्राकृतिक हित में अन्तराय नहीं होता है।

मानवी स्वतन्त्रता के तीन अंग होते हैं:—

(१) शासनिक (२) आर्थिक (३) स्वाभाविक।

शासनिक स्वतन्त्रता—शासकका प्रजा के प्राकृतिक हित में किसी प्रकार का हस्ताक्षेप न करना और सदा उस हित के लिये अनुकूल रहना शासनिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

आर्थिक स्वतन्त्रता—अर्थ का भाव रूप अथवा अभाव रूप से मनुष्य के प्राकृतिक हित में विघ्न न करना आर्थिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

स्वाभाविक स्वतन्त्रता—जो काम किसी के प्राकृतिक हित के प्रतिकूल न हो

उस काम को करने में किसी का किसी प्रकार से हस्ताक्षेप न होना स्वाभाविक स्वतन्त्रता कही जाती है।

मानवी स्वतन्त्रता के ये तीन अंग इस प्रकार मिले रहते हैं कि बिना शासनिक स्वतन्त्रता के अन्य दो स्वतन्त्रताएं हो नहीं सकती हैं, बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के मनुष्य की स्वाभाविक स्वतन्त्रता मिल नहीं सकती, बिना स्वाभाविक स्वतन्त्रता के अर्थ मनुष्य को भाव और अभाव दोनों रूप में सदा परतन्त्र कर देता है, बिना स्वाभाविक और आर्थिक स्वतन्त्रता के मनुष्य का ध्यान शासनिक स्वतन्त्रता की ओर नहीं जाता है और जो गया भी तो उस की प्राप्ति के लिये वह कुछ कर नहीं सकता।

बिना इन तीन प्रकार की स्वतन्त्रताओं के कोई मनुष्य अपना प्राकृतिक हित साधन नहीं कर सकता है।

इति दैशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये स्वातन्त्र्य
निरूपणो नाम प्रथमआन्हिकः

द्वितीय आन्हिक ।

शासनिक स्वतन्त्रता ।

शासनिक स्वतन्त्रता पुरुषार्थ रूपी शरीरका प्राण समझी जाती है, जैसे बिना प्राण के शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता है एव बिना शासनिक स्वतन्त्रता के पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता है. और जैसे प्राणक्रिया के अभाव से सब अंग निष्फल और क्रियाशून्य हो जाते हैं एवं शासनिक स्वतन्त्रता के बिना आर्थिक और स्वाभाविक स्वतन्त्रताएं निष्फल और क्रियाशून्य हो जाती हैं। अत एव सब विद्वानों के मतनुसार मनुष्य के लिये शासनिक स्वतन्त्रता परमाभीष्ट पदार्थ समझी जाती है; किन्तु इस के साधन के उपाय भिन्न भिन्न जातियों में भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।

शासन दो प्रकार का होता है:—(१) स्वजातीय, (२) परजातीय।

हमारे आचार्यों के मतानुसार पर जातीय शासनमें शासनिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती है; क्योंकि शासक और शासितों की जातियां भिन्न होने से उन में स्वभावतः चितिवैपर्य्य होता है। चितिवैपर्य्य से उन में अर्थवैपर्य्य होना अनिवार्य्य होता है, और अर्थवैपर्य्य से शासक का प्रजा के प्राकृ-

तिक हित का प्रतिघाती होना स्वाभाविक होता है। यवनाचार्य अरिष्टोटल के अनुसार भी परजातीय शासन अप्राकृतिक-शासन समझा जाता है। अंग्रेज लोग भी इस सिद्धान्त को खूब समझे हुए हैं; अत एव वे इस महासागर में हड्डी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। हमारे आचार्यों ने परजातीय शासन को अप्राकृतिक समझ कर उस के विषय में बहुत नहीं कहा है, स्वजातीय शासन के विषय में उन्होंने बहुत कुछ कहा है। उन के मतानुसार पूर्ण शासनिक स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है कि जब राज्यरूपी रथका सारथी ऐसा मनुष्य बनाया जाय कि जो वंशपरम्परा से दैवीसम्पद् युक्त हो, जिन के जन्मसंस्कार और सन्निकर्ष दैवी सम्पद् के अनुकूल हों, और जिस को उन संस्कार और उन सन्निकर्षों के अनुकूल शिक्षा मिली हो; और ऐसे ही मनुष्य उस रथ के धुर्य भी बनाये जांय। अतः हमारे ऋषिगण ऐसे उपायों की खोज में लगे कि जिससे यथेष्ट सन्तान उत्पन्न होवें और वे यथेष्ट बनाए जा सकें, अन्त में आधिजननिक और आध्यापनिक शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। आधिजननिक शास्त्र से जैसा सन्तान चाहिए वैसा उत्पन्न किया जा सकता था, भगवान् विश्वामित्र और परशुराम की उत्पत्ति इसी शास्त्र के अनुसार हुई थी। अब इस शास्त्र का बिलकुल लोप हो गया है, केवल कहीं कहीं प्रसंगवशात् इस के कोई पारिभाषिक शब्द देखे जाते हैं। आध्यापनिक शास्त्र के प्रताप से वैज्ञानिक रीति से मनुष्य जैसा चाहिए वैसा बनाया जा सकता है, प्राचीनकाल में इस शास्त्र का हमारे देश में बड़ा प्रचार था किन्तु अब इस का भी लोप हो गया है तथापि डूबते हुए सूर्य की अस्ताचल वर्तिनी लालिमा के समान इसकी आभा अभी विद्यमान है, ब्रह्मचर्य आश्रम इसी शास्त्र के अनुसार रचा गया था, जिस के पुनरुद्धार के लिये बार बार चेष्टा की जारही है। इन्हीं दो शास्त्रों के प्रताप से ऐसे शासक बनाये जाते थे जो हमारे आचार्यों के नररूप विष्णु, यवनाचार्य्य अरस्तू के श्रेष्ठगुणसम्पन्नव्यक्ति (men of transcendent virtue), जर्मन आचार्य निट्शे के अतिमानुष (ubermensch or Supermen;) होते थे और वे ऐसे होते थे कि

> "येनार्थवान् लोभपराङ्मुखेन, येन घ्नता विघ्नमयेन क्रियावान्।
> येनास लोकः पितृवान् विनेत्रा येनैव शोकापनुदेन पुत्री॥"

कौन ऐसे शासक को नहीं चाहेगा? ऐसा शासक अराजकवाद और अशासकवाद दोनों के लक्ष्य को सिद्ध कर देता था, उन को ऐसे शासक को निकाल देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती थी, ऐसे शासक के शासनकाल में शासनिक स्वतन्त्रता सोलह कलाओं से विराजमान रहती थी।

हमारे आचार्यों के अनुसार शासनिक स्वतन्त्रता का मूलकारण है राजा का त्यागी होना, इसी सिद्धान्त को आचार्य प्लेटो ने इस प्रकार कहा है कि शासनके

स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है कि जब शासक शासन करना न चाहे; प्लेटो के इसी सिद्धान्त के अनुसार यूरप में नृपासनों को कण्टकमय बना देने का यत्न होने लगा जिसके कारण शासक शासन करना न चाहे और क्रमशः राजाओं का बल संहरण और उन की पदच्युति होने लगी। टारकिन और ज्यूलियस सीजर के वध से लेकर सुल्तान अब्दुलहमीद की पदच्युति और जार निकलस द्वितीय के अन्तर्धान तक सब प्लेटो के इसी सिद्धान्त के फल हैं; अराजकवाद और अशासकवाद भी इसी के परिणाम हैं। किन्तु प्लेटो के उक्त सिद्धान्त के तात्पर्य के विषय में शङ्का उठती है; यदि उन का और हमारे आचार्यों का तात्पर्य एकही था तो यह कहना पड़ता है कि यूरप में उक्त सिद्धान्त का दुरुपयोग हो रहा है; यदि उस का वही तात्पर्य था कि जैसा आधुनिक यूरप समझ रहा है तो यह प्रश्न उठता है कि शासक शब्द का अभिप्राय क्या है? यदि उस का अभिप्राय राजा से है तो एक राजा का बल संहरण करने या उस को निकाल देने से क्या होगा, जब कि छोटे बड़े राजकर्म्मचारियों का उत्पात ज्यों का त्यों बना रहे, क्योंकि प्रजा के दुःख के हेतु बहुधा ये ही लोग हुआ करते हैं न कि राजा; यदि शासक शब्द का अभिप्राय समस्त अधिकारी वर्ग से है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी असात्विक काल में कोई समाज बिना शासक के चल सकती है? अथवा इस बात का क्या निश्चय कि जो दूसरे अधिकारी लोग चुने जायंगे वे सब महात्मा होवेंगे, वे शासन करना नहीं चाहेंगे, उन के समय में पूर्ण शासनिक स्वतन्त्रता रहेगी? क्योंकि जिस समाज में दैवीसम्पद् नहीं होती है उस की बागडोर बहुधा ऐसे लोगों के हाथ में रहती है जिनमें छलबल बहुत होता है, इसी कारण प्लेटो अपने समय की डिमक्रसी से अप्रसन्न थे, इसी कारण उन का अपने देश में अपनी राज्य कल्पना असम्भव जान पड़ी, इसी कारण रूमी रिपब्लिक में सदा मारपकड़ मची रही, इसी कारण यूरप में पहिले क्यथलिक और प्रोटेस्टण्टों के रक्त की धारा बही, फिर वहां राजा और प्रजा म तलवारें खिंचीं, अब वहां साहूकार और मजदूरों में खींचातानी होने लगी है; और अग्रे किं किं भविष्यति। बिचारा योरप स्वतन्त्रता के लिये परिवर्तन रूपी समुद्र में बार बार गोता लगाता रहा किन्तु मोती मुराद का उस को कभी न मिला, जितना वह स्वतन्त्र होने का यत्न कर रहा है उतना वह परतन्त्रता के पङ्क में धंसता जा रहा है, उतना वह ग्राम्यसुखों की बागुरा में उलझता जा रहा है, उतनी उस की जीवनयात्रा कष्टसाध्य हो रही है। भूतविज्ञानविशारद यूरप के अवैज्ञानिक दैशिक नीतिका ऐसा ही परिणाम होना है, यह बात अनेकों को बहुत पहिले से मालूम थी, अब इस महासमर ने सब की आंखें खोल दी हैं, जिस की आंखें अब भी नहीं खुलीं वे अब कभी नहीं खुलेंगी।

इन पूर्वोक्त बातों से सिद्ध यह होता है कि दैवीसम्पद् के समष्टिगत हुए बिना कोई शासकहीन समाज चल नहीं सकती; किन्तु समस्त समाज को दैवी-सम्पद् युक्त बनाने की अपेक्षा एक शासक को दैवीसम्पद्युक्त बनाना बहुत सरल और सुसाध्य होता है; फलतः यह सिद्ध होता है कि शासनिक स्वतन्त्रता प्राप्ति की पाश्चात्यों की रीति से हमारे आचार्यों की रीति सहस्रधा श्रेष्ठ और सुकर है। आचार्य अरिष्टोटल के मतानुसार भी राज्य के गुण और दोष शासक पर निर्भर होते हैं; जैसा शासक होता है वैसा राज्य होता है किन्तु शील का आवाहन करने और सत् शिक्षा देने से शासक श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। किन्तु हमारे आचार्यों के मतानुसार दैवीसम्पद् हीन मनुष्य में शील पंगु और शिक्षा बन्ध्या होती है।

हमारे और पाश्चात्यों के उपायों में चाहे भेद हो किन्तु दोनों के अनुसार मनुष्यों के लिये शासनिक स्वतन्त्रता परमाभीष्ट पदार्थ है, जितनी शासनिक स्वतन्त्रता अभीष्ट है उतनी शासनिक परतन्त्रता अनभीष्ट है। यह परतन्त्रता तीन बातों के संयोग से होती है:—समष्टिगत तामस, सत्संस्कारों का अभाव और विपरीतार्थी राज्य के संयोग से।

समष्टिगत तामस—समष्टिगत तामस से सारी जाति की बुद्धि विपरीत हो जाती है, उस को सब बातें उलटी सूझने लगती हैं, उसकी समस्त चेष्टाएं विपरीत होने लगती हैं जिसके कारण नीचों का अभ्युदय और महात्माओं का अवपात होने लगता है, ज्यों ज्यों परतन्त्रता के पाश बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों लोग अपने को स्वतन्त्र समझने लगते हैं। आसुरी बातें आसुरी सम्पद् के लिये अनुकूल होने लगती हैं, सरासर दैवीसम्पद् का न्हास और आसुरी सम्पद् की वृद्धि होने लगती है; ज्यों ज्यों आसुरी सम्पद् की वृद्धि होती है त्यों त्यों बन्धनों की भी वृद्धि होती जाती है क्योंकि " दैवीसम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।"

सत्संस्कारों का अभाव—सत्संस्कारों के अभाव से लोगों में बड़े कामों को करने की रुचि और योग्यता, तत्प्रतिकूल कारणों को निवारण करने की शक्ति नहीं रहती है, तामसी सुख की ओर उन की प्रवृत्ति होने लगती है, उन में एक प्रकार की तामसी सहिष्णुता आजाती है. इन सब कारणों से उन में किसी प्रकार के बन्धनों को काटने की रुचि और शक्ति नहीं रहती हैं।

विपरीतार्थी राज्य—यदि राज्य विपरीतार्थी न हो तो केवल समष्टिगत तामस और सत्संस्कारों के अभाव से शासनिक परतन्त्रता नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रजा चाहे तामसी और सत्संस्कार हीन हो किन्तु जब तक राज्य का प्रजा से अर्थ वैपरीत्य नहीं होता है तब तक राज्य प्रजा के प्राकृतिक हित में हस्ताक्षेप नहीं करता है, प्रजा के प्राकृतिक हित में राज्य का हस्ताक्षेप न होने से शासनिक परतन्त्रता नहीं

हो सकती है। जब राज्य का प्रजा से अर्थवैपर्य्य होता है तो राज्य का अपने स्वार्थ के योगक्षेम के लिये प्रजा के प्राकृतिक अर्थ को नाश करना स्वाभाविक होता है, अतः राज्य प्रजा के प्राकृतिक हित में हस्ताक्षेप करता रहता है, किन्तु जब तक प्रजा सब प्रकार से दीन हीन न हो तब तक अल्प व्यक्तिक राज्य की बहुव्यक्तिक प्रजा से कुछ चल नहीं सकती. अतः विपरीतार्थी राज्य से प्रजा को दीन हीन बनाने के लिये शासनिक परतन्त्रता की जरूरत अत्यन्त आवश्यक होती है, जिससे प्रजा राज्य के प्रतिकूल शिर न उठा सके। अतः विपरीतार्थी राज्य शासनिक परतन्त्रता का मुख्य हेतु समझा जाता है।

हमारे आचार्य्यों के अनुसार शासनिक स्वतन्त्रता के मुख्य हेतु ये हैं:—

(१) उत्तम कुलके उत्तम दायिक और सांस्कार्यिक संस्कार वाले उत्तम पुरुषों के हाथ में शासन देना। ऐसे उत्तम शासक आभिजनिक और आध्यापनिक शास्त्रों के द्वारा बनाए जाते थे।

(२) शासक के हाथ में, चाहे वह कैसा ही श्रेष्ठ क्यों न हो स्मृति रचना का काम न होना। वह काम ब्रह्मपरायण उत्तम त्यागी ब्राह्मणों के हाथ में होना। हमारी जितनी स्मृतियां हैं वे सब ऋषिमुनियों की रची हुई हैं।

(३) शासक का मुख्य कर्त्तव्य वर्णाश्रम का पालन करना होना।

(४) समस्त सन्यासी, वानप्रस्थ, ब्राह्मण और ब्रह्मचारियों से शासक का गौरव कम होना; इस उपाय से शासक को अभिमान और आसक्ति होने नहीं पाती थी। आचार्य्य प्लेटो के मतानुसार भी आसक्ति न होने से ही शासक उत्तम होता है।

(५) ब्रह्मचर्य्याश्रम प्रथा से प्रजा को तेजस्वी बनाना; क्योंकि तेजस्वी प्रजा की स्वतन्त्रता में हस्ताक्षेप करने का किसी शासक का साहस नहीं हो सकता है।

इन उक्त उपायों से राजवादी और अराजवादी दोनों का अर्थ सिद्ध हो जाता है, राजवादियों को आदर्शरूप राजा और अराजवादियों को पूर्ण शासनिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।

इति दैशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये शासनिक—
स्वातन्त्रिको नाम द्वितीयान्हिकः

तृतीय आन्हिक ।

आर्थिक स्वतन्त्रता ।

शासनिक स्वतन्त्रता जिस पौरुष रूपी शरीर का प्राण है आर्थिक स्वतन्त्रता उस की रीढ़ है, जैसे बिना रीढ़ के शरीर खड़ा नहीं रह सकता है, वैसे बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के कोई मनुष्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता है, आर्थिक रूप से परतन्त्र रहने से मनुष्य का ध्यान पुरुषार्थ की ओर जाता ही नहीं, और जो गया भी तो उसमें हाथ डालने का साहस नहीं होता, अन्नवस्त्र की चिन्ता अथवा भोग विलासों की आसक्ति उसको एक प्रकार से नपुंसक बना देती है, अपरंच आर्थिक परतन्त्रता के कारण किसी समाज का शासनिक स्वतन्त्रता बहुत दिनों तक नहीं निभ सकती है, प्रतिक्षण उस की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अपात होने का अन्देशा रहता है। कहा जाता है कि इसी आर्थिक परतन्त्रता के कारण एक बार मेवाड़ रत्न रानाप्रताप भी मुगुल बादशाह के सामने मस्तक नवाने को हो गये थे, इसी कारण हमारे अनेक युवक जो स्कूल और कालेजों में शेर के से बच्चे दिखाई देते हैं गृहस्थ में प्रवेश करते ही निरे गाड़ी के बैल बन जाते हैं, इसके कारण मनुष्य की प्रवृत्ति नीच कामों की ओर हो जाती है, व्यभिचार को छोड़ और जितने नीच कर्म होते हैं उन सब का कारण प्रायः यही परतन्त्रता है। अतः समष्टिरूप और व्यष्टिरूप से प्रजा की आर्थिक स्वतन्त्रता बनाए रखना राज्य का परमधर्म समझा जाता है, इसी कारण हमारे अर्थशास्त्र की उत्पत्ति हुई थी, कालक्रम से हमारे इस शास्त्र का भी लोप हो गया है; इस शास्त्र के अनुसार हमारी समाज ऐसी रची गई कि जिसके प्रभाव से वर्षों से विविध प्रतिकूल कारणों के होते हुए भी हमारे देश की आर्थिक अवस्था अब तक कुछ अंशों में ज्यों की त्यों बनी हुई है, जिसका अब दिन प्रति दिन त्वरित गतिसे लोप होता जा रहा है।

इस स्वतन्त्रता का तात्पर्य समझने के लिये यह आवश्यक है कि अर्थ का तत्त्व समझा जाय। साधारणतः अर्थ उस वस्तु को कहते हैं जो मनुष्यों के जीवन के लिये आवश्यक हो; किन्तु अर्थशास्त्र में स्वच्छन्दरूप से अनायास प्राप्त होने वाली वस्तु को अर्थ नहीं कहते हैं, यथा वायु, जल, तेज इत्यादि। अर्थ शास्त्र में केवल वही वस्तु अर्थ कही जाती है जो साधारणतः उद्यम से प्राप्त होती है और मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक अथवा आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली होती है। जो वस्तु उद्यम से प्राप्त हो किन्तु न तो वह मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक हो और न उससे ऐसी वस्तु प्राप्त होसके जो मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक हो वह अर्थ नहीं कही जाती है; यथा मिश्र के स्तूप, हां यदि उन

स्तूपों के ईंटें बिकने लगें तो वे अर्थ कहे जाने लगेंगे । जो वस्तु मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक हो किन्तु बिना किसी मनुष्य के उद्यम के प्राप्त हो सके वह भी अर्थ नहीं कही जाती है, यथा जल; यदि उसी जल प्राप्ति के लिये उद्यम करना पड़े, तो वह अर्थ समझा जाने लगता है; यथा मारवाड़ प्रदेश में ।

अर्थ दो प्रकार का होता है:—

(१) मुख्य अर्थ अथवा धन (२) गौण अर्थ अथवा द्रव्य ।

जो वस्तु मनुष्य जीवन की आधार होती है अथवा ऐसी वस्तु को उत्पन्न करती है वह मुख्य अर्थ अथवा धन कही जाती है; यथा अन्न, वस्त्र, गौ, भूमि इत्यादि ।

जो वस्तु मुख्य अर्थों के विनिमय की साधनमात्र होती है वह गौण अर्थ अथवा द्रव्य कही जाती है; यथा अशर्फी, रुपया, इत्यादि ।

अर्थ का किसी रूप से मानवी स्वतन्त्रता का प्रतिघाती न होना आर्थिक स्वतन्त्रता कही जाती है । हमारे दैशिकशास्त्रके अनुसार बिना मुख्यअर्थ सम्बन्धी स्वतन्त्रता के आर्थिक स्वतन्त्रता केवल गौण अर्थ के प्राचुर्य्य से प्राप्त नहीं हो सकती है ।

अर्थ मानवी स्वतन्त्रता का प्रतिघाती तीन प्रकार से होता है:—

(१) अभाव रूप से, (२) संगोत्पादक रूप से, (३) निर्निमित्त रूप से ।

जब अर्थ अभाव से मनुष्य को अन्नवस्त्र की चिन्ता लगी रहती है, आजीविका प्राप्ति में उस के समय और प्राणशक्ति का अधिकांश चला जाता है, अन्नवस्त्र के लिये उसको दूसरों के भरोसे रहना पड़ता है, अपने विचारों को दबाकर दूसरों की हां में हां मिलाना पड़ता है तो अर्थ का अभाव रूप से स्वतन्त्रता का प्रतिघाती होना कहा जाता है । अर्थ का इस प्रकार स्वतन्त्रता का प्रतिघाती होना अभावज परतन्त्रता कही जाती है, यह मनुष्य की महाशत्रु होती है, यह उसको मनुष्य चोले का धर्म निभाने नहीं देती है, उस को कोलू का बैल बनाए रखती है, इसी के कारण आचार्य्य द्रोण को कौरवों की दरबारदारी करनी पड़ी थी ।

इस परतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं:—

(१) कृषि और गोरक्षा की उपेक्षा—मनुष्य का जीवन मुख्य रूप से अथवा गौण रूप से कृषि और गोरक्षा पर निर्भर होता है, जब किसी कारण अर्थ नाश हो जाता है तो ये ही दो पदार्थ इस को पूर्ण करते हैं, इन्हींसे समस्त प्रकार के

अन्नादि प्राप्त होते हैं, इन्हीं को खरीदने के लिये मनुष्य को द्रव्य की आवश्यकता होती है, जब इन का अभाव हो जाता है तो द्रव्य बिलकुल निरर्थक हो जाता है, क्योंकि वह खाने पीने की वस्तु तो है नहीं। अभाविक परतन्त्रता के साथ जहां कृषि और गोरक्षा की उपेक्षा होने लगती है तो वहां राजा और प्रजा दोनों की इतिश्री हुई समझ लेनी चाहिये।

(२) नौकरी के चलन की तेजी—इस कुचलन से सब का ध्यान नौकरी की ओर चला जाता है, फलतः कृषि गोरक्षा और अन्य आवश्यक व्यवसायों की उपेक्षा हो जाती है, जिससे अन्न वस्त्रादि की उत्पत्ति आवश्यकता से कम हुआ करती है; अतः वस्त्रादि का भाव सदा चढ़ा रहता है; एवं समाज में सदा अभाविक परतन्त्रता बनी रहती है।

(३) भोग विलास के पदार्थों का आधिक्य—मनुष्य में इन्द्रियां स्वभावतः प्रबल होती हैं, अनुकूल पदार्थों के सन्निकर्ष से ये और भी अधिक प्रबल हो जाती हैं; कोई तो इस प्रकार भोग विलास के पदार्थों की ओर खिंचते हैं और कोई चलन की हवा से इन की ओर खिंच जाते हैं; अतः ऐसे पदार्थों की खपत अधिक होने लगती है, जिससे उत्पादन भी इन का अधिक होने लगता है; अतः इन पदार्थों के उत्पादन में अधिक मनुष्य लग जाते हैं, जिस से कृषि गोरक्षा आदि आवश्यक कामों के लिये पर्याप्त मनुष्य न होने से समाज में अन्न का घाटा रहता है।

(४) कुराज्य और कुशासन—इन के कारण लूट खसोट का बाजार भिन्न भिन्न रूप से सदा गरम रहा करता है, जिस के कारण प्रजा को एक प्रकार का आर्थिक अतिसार हो जाता है।

(५) अपनी आर्थिक अवस्था से बढ़ कर काम करना—ऐसा काम करने वाले को सदा ऋण लेना पड़ता है, ऋण की शीघ्र चुकौती न होने से वह ब्याज से दबता जाता है, एवं उसकी आर्थिक अवस्था दिन प्रति दिन बिगड़ती जाती है. एक दो बार ऐसे काम करने से फिर उस का अभाविक परतन्त्रता के पाशों से मुक्त होना कठिन हो जाता है।

(६) कुसङ्ग—इससे मनुष्य द्यूतादि अनेक दुर्व्यसनों को सीख लेता है जिस का अवश्यं भावि परिणाम दारिद्र्य होता है।

(७) आलस्य और इन्द्रियपरता—आलस्य के कारण मनुष्य कुछ उपार्जन नहीं कर सकता है और इन्द्रियपरता से वह अपव्ययी हो जाता है, अतः आलस्य और इन्द्रियपरता के संयोग से शीघ्र दारिद्र्य उपस्थित हो जाता है।

(८) स्त्री में रजोगुण और पुरुष में तमोगुण का आधिक्य होना—इस विपरीत संयोग से स्त्री अपने पति को कोलू का बैल बना देती है, अथवा घर में सदा दांत बजा करते हैं; उभयतः पुरुष निस्तेज और श्रीहत हो जाता है। ऐसे घर में लक्ष्मी का वास नहीं हो सकता है।

(९) परिवार के लोगों में ऐक्य न होना—इससे कमाई करने वाले व्यक्ति अपनी कमाई के धन को कुटुम्ब के संहत भण्डार में न रख कर अलग अलग अपने पास रखने लगते हैं; फलतः कुटुम्ब के लोगों में वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है, सब छिन्न भिन्न हो जाते हैं, तब उन सब को अपने अपने गुजारे की सूझने लगती है, जीवन यात्रा की मीमांसा सब की सुध उड़ाये रखती है; अतः सब को चिन्ता और बेकुरसती रहती है।

बहुधा यह देखने में आता है कि अर्थ वृद्धि के साथ मनुष्य या तो तृष्णासङ्ग; जन्य अथवा भोगविलासजन्य दौर्बल्य से परतन्त्र हो जाता है। कारण इसका यह है कि अर्थ बहुधा संग उत्पन्न कर देता है, कभी तो केवल अपने में और कभी विषय भोगों में। जब मनुष्य का संग केवल अर्थ में होता है उसकी बुद्धि रागात्मक हो जाती है, अर्थ की तृष्णा और अर्थ के संग से मनुष्य निन्यानवे के फेर में पड़ जाता है जिससे उस को अभीष्ट और अनभीष्ट कामों का ज्ञान नहीं रहता है, उसको सदा द्रव्यसंचय की धुन लगी रहती है, इस के अतिरिक्त और किसी बात में उसका ध्यान जाता ही नहीं; फलतः वह अपने प्राकृतिक हित साधन के योग्य नहीं रहता। ऐसे ही लोग देशघाती और विश्वासघाती होते हैं; किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सब ही धनवान् ऐसे होते हैं। मनुष्य की ऐसी नीच प्रकृति होती है अर्थसङ्गसे न कि अर्थ से; जब मनुष्य का अर्थ में संग नहीं होता है तो उसकी बुद्धि में रागजनित विकार उत्पन्न नहीं होते हैं चाहे उस के पास कितना ही धन क्यों न हो; निःसङ्ग राजा जनक का एक बड़े राष्ट्र में भी राग उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु ससंग शुक का एक कौपीन में राग उत्पन्न हो गया, निःसंग राजा मोरध्वज को पुत्र का मोह नहीं हुआ, किन्तु ससंग जड़भरत को एक मृग के बच्चे का मोह हो गया, त्यागी भामासाहने उदयपुर की डूबती हुई नौका को उतार दिया, किंतु रागी चूड़ामल ने जीती हुई भरतपुर की बाजी खोदी। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य परतंत्र होता है अर्थसङ्ग से न कि अर्थ से।

और जब अर्थ के प्रभाव से मनुष्य का संग विषयभोगों में होने लगता है तो उस का मन दावानल के समान हो जाता है, ज्यों ज्यों उस में अर्थ रूपी इंधन पड़ते जाते हैं त्यों त्यों विषयतृष्णा रूपी अग्नि बढ़ती जाती है, ऐसा मनुष्य इन्द्रियों का दास हो जाता है, उसको इन्द्रियरूपी देवताओं को पूजने के लिये

सदा अर्थ रूपी फूलों की चिन्ता बनी रहती है, अर्थ प्राचुर्य्य के होते हुवे भी ऐसे मनुष्य को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है, जो हुई भी तो बालू के भीत के समान बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकती। भगवती प्रकृति का यह सनातन नियम है कि पौरुष और विलास एक साथ नहीं रह सकते हैं, पौरुष के न होने से किसी को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है, और जो हुई भी तो उसका दुष्प्रयोग होता है। अर्थ का इस प्रकार स्वतन्त्रता का प्रतिघाती होना सांगिक परतन्त्रता कही जाती है। इसी के कारण राजा नहुष ने इन्द्रासन से हाथ धोए और वाजिद-अली शाह ने अवध की नव्वाबी खोयी। हमारे आचार्यों के मतानुसार यह परतन्त्रता सब से भयङ्कर होती है, एक बार इस में पड़ जाने से फिर निस्तार होना प्रायः असम्भव हो जाता है। आचार्य अरस्तू के मतानुसार भी यह परन्त्रता अभाविक परतन्त्रता की अपेक्षा अधिक अनर्थकारिणी होती है। यह परतन्त्रता जब प्रजागत होती है तो जाति का अवपात होने लगता है, जब यह शासकगत होती है तो प्रजापीड़न और विप्लव होने लगते हैं और जब यह उभयगत होती है तो स्वराज्य का लोप हो जाता है।

इस परतन्त्रता के मुख्य कारण हैं:—

(१) धन का मान होना—मनुष्य को पेट भरने और शरीर ढकने के लिये बहुत धन नहीं चाहिये, थोड़े उद्योग से उसकी जीवनयात्रा चल सकती है, किन्तु मनुष्य स्वभावतः मानाहारी है, अतः जब वह देखता है कि धन से मान प्राप्त होता है तो वह धनसञ्चय करने में प्रवृत्त हो जाता है, कालान्तर में उस को निरुद्देश्य और अनावश्यक धन संचय करने का दुर्व्यसन हो जाता है।

(२) धन का अनुचित प्रभाव होना—जब किसी समाज में धन का अनुचित प्रभाव होता है तो उस में दुर्गुणी धनवान् का मान और सद्गुणी-निर्धन का अपमान होने लगता है, धनवान् के लिये सर्वत्र सब मार्ग खुले रहते हैं और दरिद्री के लिये सब रास्ते बन्द रहते हैं, धन के प्रभाव से सत्यका असत्य, और असत्यका सत्य होने लगता है, तो ऐसी अवस्था में मनुष्यों का धनपरायण होना स्वाभाविक होता है।

(४) दण्डनीति की वृद्धि और व्यवहारनीति का महार्घ होना—जब दण्डनीति की वृद्धि होती है तो बात बात में लोगों की पकड़ होने लगती है और अभि-युक्तों को अपना पिण्ड छुटाने के लिये अदालत रूपी यज्ञवेदी में बहुत धन हवन करना पड़ता है। और जब व्यवहारनीति ऐसी हो जाती है कि धन का व्यय किये बिना लोगों के स्वत्वों का योग क्षेम नहीं हो सकता है तो धन में लोगों का बड़ा भरोसा हो जाता है। उभयतः लोग धन को अपना इष्टदेव समझने लगते हैं।

(५) राज्य और उस के अधिकारी वर्गों की धनपरायणता—जब ऐसा होने लगता है तो बात बात में प्रजा की थैली कटने लगती है, बिना थैली वालों का काम चलना कठिन हो जाता है, उनके लिये चारों ओर कांटे बिछ जाते हैं, धन का अनुचित प्रभाव और अत्यन्त मान होने लगता है, दण्डनीति की वृद्धि और न्याय का नीलाम होने लगता है, राज्य में लोगों का भरोसा नहीं रहता है; अतः मनुष्य धनोपार्जन को अपना परम धर्म समझने लगते हैं, ऐसा होना स्वाभाविक बात है, क्योंकि मनुष्य को प्रकृति ने भविष्य की चिन्ता करनेवाला जीव बनाया है। इन्हीं कारणों से राजा भर्तृहरि ने धनपरायणप्रभु को अपने हृदय का शल्य कहा है।

(६) व्यापार की अतिशय वृद्धि—व्यापार की वृद्धि से भोग विलास की वस्तुओं का प्रचार, विनिमय प्रथा का ह्रास, द्रव्य की क्रयशक्ति की वृद्धि और द्रव्य का अधिकप्रयोग होने लगता है, इन कारणों से द्रव्य में मनुष्य का बड़ा भरोसा हो जाता है, साथ साथ इस भरोसे के द्रव्य का सुधार्य्य और सुवाह्य होने से मनुष्य का द्रव्य में राग उत्पन्न हो जाता है। जो वस्तु दुर्धार्य्य और दुर्वाह्य होती है कोई उसका सञ्चय नहीं करता है; अतः उस में किसी का सङ्ग नहीं होता है। यदि किसी राज्य में द्रव्य के बदले धन में वेतन चुकाया जाने लगे और उस धन के खरीदने वाले भी बहुत कम हों तो उस राज्य का कोई कर्मचारी आवश्यक से अधिक वेतन नहीं लेगा, न उस राज्य में वृद्धि के लिए कोहराम मचेगा। दुर्धार्य्य और दुर्वाह्य होने से सर्कारी हुण्डियों की चोरी नहीं होती है, ऐसा होने से न कोई दूध का अनावश्यक सञ्चय करता है। इससे अनुमान यह होता है कि साङ्गिक परतन्त्रता का मूलकारण है द्रव्य, और द्रव्य का अतिप्रचार होता है व्यापार वृद्धि से।

(७) परिचर्य्यात्मक वृत्ति—परिचर्य्या से मनुष्य की वृत्ति मलिन हो जाती है, मलिनबुद्धि वाला नैसर्गिक सुख का अनुमान नहीं कर सकता है, निरुद्देश्य द्रव्य-सञ्चय को ही वह परम सुख समझे रहता है। अत एव बहुधा यह देखने में आता है कि पर्यांचर्यावृत्तिवालों की अपेक्षा स्वतन्त्रवृत्तिवाले अधिक निःसङ्ग होते हैं और अधिक सात्विक दान करते हैं।

(८) सन्तानोत्पत्ति का आधिक्य—इस के कारण मनुष्य तङ्ग रहता है; अतः उस को सदा धनोपार्जन की धुन लगी रहती है।

(९) विकार हेतुओं के सामीप्य के साथ दम और तितिक्षा की न्यूनता—जब विकारहेतु उपस्थित होते हैं तो इन्द्रियाँ स्वभावतः उनकी ओर खिंचने लगती हैं, दम और तितिक्षा की न्यूनता के कारण मनुष्य अपने को रोक नहीं सकता है, जितना उस के पास धन होता है उतना वह भोग विलासों में लिप्त होता है।

जब अर्थ अभावरूप और सङ्गोत्पादक रूप से मानवी स्वतन्त्रता का प्रतिघाती नहीं होता है तो मनुष्य जो चाहे वह कर सकता है, उसको प्रचुरसमय और यथेष्ट अवकाश मिल जाते हैं, जिससे उस को मानो एक प्रकार का यथेष्टगामी विमान प्राप्त हो जाता है; किन्तु इस अद्वितीय विमान को प्राप्त कर के मनुष्य एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता है, वह या तो ऊपर को चढ़ता जाता है अथवा नीचे को गिरता जाता है; निमित्त रूपी प्रेरक के बिना यह विमान मनुष्य को प्रमाद और आलस्य में गिरा देता है जिससे उस में तामस भर आता है, तामस से वह अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ जाता है । जब मनुष्य की जीवन यात्रा अनायास चली जाती है और उसे अधिक धन अथवा विषय भोगों की इच्छा नहीं होती है तो वह निरुद्देश्य हो जाता है, निरुद्देश्य होने से वह उद्यमहीन हो जाता है; फलतः उसकी तामसी प्रवृत्ति होने लगती है । किन्तु उस के किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के साधन में लगे रहने से ऐसा होने नहीं पाता । अतः हमारे दैशिकाचार्य्योंके मतानुसार पूर्णभाविक स्वतन्त्रता उसे ही मिलनी चाहिए कि जिसे कोई श्रेष्ठ उद्देश्य साधन करना हो, न कि निरुद्देश्य मनुष्य को, ऐसे मनुष्य की भाविक स्वतन्त्रता का परिणाम समाज के लिये अहितकारी होता है । इसी सिद्धान्त के अनुसार हमारी समाज में अर्थविभाग किया गया था, हमारे आचार्यों के अनुसार किसी निरुद्देश्य मनुष्य को पूर्णभाविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होनी देनी चाहिये, यदि किसी ऐसे मनुष्य के पास आवश्यकता से अधिक धन हो जाय तो उससे कोई यज्ञादि सत्कार्य्य कराके उस धन को निकलवा देना चाहिए, अन्यथा उस में तामस आ जाता है । तमोगुण का स्वाभाविक धर्म है बन्धन में डालना । अतः निरुद्देश्य मनुष्य भाविक और नैसर्गिक स्वतन्त्रताओंके होते हुए भी गोजू के समान अपने लिये आप बन्धन रच लेता है । अर्थ के इस दोष को नैर्मिमित्तिक परतन्त्रता कहते हैं । इस परतन्त्रता ने वैसे भारत को ऐसा भारत बनाया है, जब तक भारत ने अपनी भाविक और नैसर्गिक स्वतन्त्रता का कोई निमित्त समझ रक्खा था तब तक कोई उसकी ओर खड़ी नजर से देख नहीं सकता था, और जब वह निमित्त अन्तर्हित होने लगा तो भरी सभा में भारतरूपी द्रौपदी की चीर उतारी जाने लगी, किसी को उसे बचाने का साहस न हुआ; सरासर भारत का नाश होने लगा । भारत का ही क्या जिस धनाढ्य व्यक्ति अथवा सम्पन्न समाज का नाश होता है पहिले उस में नैर्मिमित्तिक परतन्त्रता का घुन लग जाता है, तदनन्तर उस से समाज में प्रमाद और आलस्य का अथवा तृष्णा और सङ्ग का सञ्चार होता है ।

इस परतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं:—

(१) चिति का अन्तर्धान—जैसे चैतन्य के सान्निध्य से प्राण जागृत होता

है, प्राणकी जागृति से भिन्न भिन्न प्रकार की भिन्न भिन्न शक्तियों का आविर्भाव होता है; और चैतन्य के तिरोधान होने पर प्राण अन्तर्लीन हो जाता है और प्राण के अन्तर्लीन होने पर सब शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं, एवं चिति के उदयापवात के साथ विराट् का भी उदयास्त होता है, विराट् के उदयास्त के साथ अन्य सब जातीय शक्तियों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, प्रचण्ड दैशिकधर्म से लेकर प्रशान्त काव्यकलाप तक सब उसी चिति के रूपान्तर होते हैं। जब किसी जाति की चिति का लोप होता है तो उस का आदर्श आहार निद्रा मैथुन के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता है, इन्हीं के साधन में उस की अधिकांश शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।

(२) तामसी प्रवृत्ति—जैसी मनुष्य की प्रवृत्ति होती है वैसी उसकी कर्मचोदना और वैसा उसका कर्म संग्रह होता है, अर्थात् ज्ञान ज्ञेय परिज्ञाता, कर्म कर्त्ता और कारण सब तामसी हो जाते हैं, जिससे मनुष्य एक ही बात को सर्वस्व समझे हुए निष्कारण और बिना उस के तत्त्वार्थ के जाने उस में लौलीन होकर बिना अनुबन्ध पौरुष क्षय और हिताहित का विचार किए काम करने लगता है; उस में चपलता स्थूलबुद्धि विचाराभाव ठगपन स्वार्थ आलस्य विषाद दीर्घसूत्रता उलटीबुद्धि आजाती हैं, सदा वह मोह में फँसा हुआ निद्रा आलस्य प्रमाद की लोरियों में ऊँघता रहता है। ऐसे मनुष्य के लिये दिन काटने और पेट पालने के अतिरिक्त अन्य कोई काम नहीं होता है।

(३) तामसी सन्निकर्ष—जैसे मनुष्य के सन्निकर्ष होते हैं, जैसे लोगों के साथ उस का उठना बैठना होता है वैसा वह आप हो जाता है, जैसा मनुष्य होता है वैसा उस का आदर्श होता है; अतः तामसी सन्निकर्षों के बीच मनुष्य का ऊँचा आदर्श नहीं होता है।

(४) चिन्ता और व्याधि—चिन्ता और व्याधि से चित्त सदा अप्रसन्न रहता है, अप्रसन्न चित्त में तृष्णा और मनोरथ के अतिरिक्त और कोई आदर्श समा नहीं सकता है।

जैसे आर्थिक परतन्त्रता तीन प्रकार की होती है वैसे आर्थिक स्वतन्त्रता भी तीन प्रकार की होती है:—(१) भाविक (२) नैसर्गिक (३) नैमित्तिक।

अर्थ का अभाव न होना, अपनी आजीविका अपने वश में होना, थोडे समय और अल्पप्रयास से जीवन यात्रा का चल सकना भाविक स्वतन्त्रता कही जाती है इस स्वतन्त्रता से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघाती चिन्तारूपी बड़ा विघ्न छूट जाता है।

मनुष्य का अर्थ में अथवा विषयभोगों में सङ्ग न होना नैसङ्गिक स्वतन्त्रता कही जाती है। इस स्वतन्त्रता से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघाती रागरूपी विघ्न दूर हो जाता है, यह स्वतन्त्रता प्राप्त होती है त्याग और दम से, त्याग से मनुष्य का किसी वस्तु में सङ्ग उत्पन्न नहीं होने पाता है, और दम से उस के मन में विषयतृष्णा उत्पन्न नहीं होती है। अपरञ्च इन दो गुणों से मनुष्य की बुद्धि ठीक रहती है जिस के कारण वह अर्थ के प्रयोजन को भली प्रकार समझ सकता है और अनावश्यक अर्थ सञ्चय करने का उस को व्यसन होने नहीं पाता।

भाविक और नैसङ्गिक स्वतन्त्रताओंके उपयोग किसी श्रेष्ठ निमित्त के साधनार्थ होने से मनुष्य में प्रमाद और आलस्य न आना नैमित्तिक स्वतन्त्रता कही जाती है। इस स्वतन्त्रता से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघाती मोह रूपी विघ्न छूट जाता है।

इन्हीं तीन प्रकार की स्वतन्त्रताओं के सङ्गम से पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता बनती है, केवल अर्थप्राच्चुर्य्यसे किसी को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है। इन दिनों हमारे कौलेजों में पढ़ाये जाने वाले अर्थशास्त्र का यह भाव पाया जाता है कि द्रव्यप्राचुर्य्य से पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। कदाचित इसी भ्रान्ति में पड़ कर इङ्गलिस्तान की ऐसी शोचनीय आर्थिक अवस्था हुई है. चाहे इङ्गलिस्तान के भण्डार सोने से भरे पड़े हुए हैं, चाहे देशदेशान्तरों के मुकुट-मणियों से उस के पदपङ्कज जगमगा रहे हैं; किन्तु वास्तव में उसकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है, आर्थिक रूप से वह भारत के आधीन है; यह आधीनता उसके आर्थिक कल्पनाओं के भूल का परिणाम है, अब उसको अन्न की चिन्ता होने लगी है, अब उसको अपनी तीस लाख एकड़ ज़मीन में कृषि करने की चिन्ता होने लगी है, अब उस को अपने प्रमोदकाननों में आलू बोने की सूझने लगी है। इस अर्थ शास्त्र का खमीर अब भारत में भी फैलने लगा है और उसका अर्थशास्त्ररूपी सूर्य्य अस्ताचलचूड़ावलम्बी हो चला है, अब केवल उसकी अन्तिम लालिमा कहीं कहीं देखने में आती है।

हमारे अर्थशास्त्र के अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं:—

(१) कृषि और गोरक्षा का गौरव—शरीरयात्राके लिये मुख्य पदार्थ हैं अन्न और वस्त्र, ये प्राप्त होते हैं मुख्य रूप से अथवा गौण रूप से भगवती वसुन्धरा से, इससे जो कुछ कमी रह जाती है उसको पूरा करती है गोमाता। इन दोनों की सेवा से माई अन्नपूर्णा सदा प्रसन्न रहती है, सदा भाविक स्वतन्त्रता बनी रहती है; अत एव हमारे आचार्य्यों ने अपने देश को कृषिप्रधान और अपनी जाति को गोभक्त बनाया है. इन्हीं दो बातों ने इस समय भारत की लाज रखी है, नहीं तो भारत में इस समय कौड़ी के तीन तीन गुलाम बिका करते।

(२) वाणिज्य को कृषि और गोरक्षा से नीचा स्थान देना—द्रव्य के बिना वाणिज्य दुष्कर होता है, वाणिज्य को सुगमता पूर्वक चलाने के लिये द्रव्य का प्रचार करना पड़ता है; अतः ज्यों ज्यों वाणिज्य की वृद्धि होती है त्यों त्यों द्रव्य का प्रचार भी बढ़ता जाता है, वाणिज्य को कृषि और गोरक्षा से उच्च स्थान देने से द्रव्य का धन से अधिक महत्त्व हो जाता है। इस लिये लोग धन का उपार्जन छोड़ कर द्रव्य सञ्चय की ओर झुक पड़ते हैं; फलतः कृषि और गोरक्षा की उपेक्षा हो जाती है। अन्त में वह विपत्ति उपस्थित होती है जो इस समर के कारण इङ्गलिस्तान में हो रही है। जर्मनी के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री प्रिन्स बूलो की १९०२ की कृषिपुनरुद्धार सम्बन्धी नीति से यह सिद्ध होता है कि जर्मन लोगों के मतानुसार भी कृषि ही आर्थिक स्वतन्त्रता की मुख्य आधार है। अतः वाणिज्य को कृषि और गोरक्षा से बढ़ने नहीं देना चाहिये।

(३) अर्थ का बहुल गौरव न होना—अर्थ का गौरव कम होने से लोग अनावश्यक अर्थ संचय नहीं करते हैं, राजा और प्रजा में परस्पर अर्थ वैमनस्य नहीं होता है, द्रव्य के लिये लोगों की प्राणशक्ति का वृथा क्षय नहीं होता है। यत्र-नाचार्यों के मतानुसार भी अर्थ का कम गौरव होना जाति के लिये श्रेयस्कर है, वर्तमान बोल्सविकों का भी यही सिद्धान्त है। ब्रह्मवर्चस् और क्षत्रतेज से अर्थ-बलको नीचा स्थान देकर हमारे आचार्यों ने एक बड़ी जटिल सामाजिक मीमांसा को सुलझा दिया था।

(४) वैश्यों के अतिरिक्त वाणिज्य करने का अधिकार और किसी को न होना—इस नियम से अन्य वर्ण अपने अपने उपयोगी कामोंको छोड़ वाणिज्य की ओर झुकने नहीं पाते, लोगों का अपने अपने कामोंको छोड़ कर वाणिज्य में प्रवृत्त हो-जाने से जाति साङ्घिक परतन्त्रता में और कभी विशेष कारणों के उपस्थित होने पर घोर आभाविक परतन्त्रता में पड़ जाती है।

(५) व्यवसायों का अन्वयागत होना—इस से लोगों को अपना अपना व्यव-साय सीखने में बहुत सुगमता रहती है; फलतः अन्य कामों को सीखने और करने के लिये यथेष्ट समय मिल सकता है; कलाकौशलों का लोप होने नहीं पाता है; पेट की समस्या समाज को विपर्यस्त करने नहीं पाती; व्यक्तिगत और जातिगत आर्थिक स्वतन्त्रता बनी रहती है। शताब्दियोंसे प्रतिकूल कारणों के होते हुए भी इस अन्वयागत व्यवसायप्रथा के कारण भारत में सुखशान्ति बनी हुई थीं; इसके प्रतिपक्ष अनुकूल कारणों के होते हुए भी इस प्रथा के अभाव के कारण यूरप को सुखशान्ति के दर्शन तक न हुए, उसकी चिन्तारूपी दावाग्नि बढ़ती गई जिसकी लपटों से अब हमारा भारत भी झुलसने लगा है।

(६) प्रत्येक ग्राम और नगर की ऐसी सामाजिक अवस्था बनाना कि जिससे वह आर्थिक रूप से दूसरे नगर व ग्राम के आधीन न हो इस प्रकार की सामाजिक रचना से प्रत्येक स्थान के आवश्यक पदार्थ वहीं उत्पन्न हो जाते हैं, सर्वत्र स्थानीय भाविक स्वतन्त्रता बनी रहती है, एक स्थान में उत्पात मचने से उसके आसन्नवर्ती स्थानों में सुखशान्ति भङ्ग होने नहीं पाते हैं । ऐसा होने नहीं पाता है कि युद्ध तो होवे यूरप में और महंगी पड़े भारत में ।

(७) सत्कार्य्य में उद्वर्त धन को निकलवा देना—इस प्रथा से एक पन्थ दो कार्य्य होते हैं। एक ओर आवश्यक से अधिक धन के चले जाने से लोग साङ्गिक और नैमित्तिक परतन्त्रता में पड़ने नहीं पाते हैं और दूसरी ओर लोकोपकार में लगे हुए धन हीन ब्राह्मण अथवा दूसरे सत्पात्र अभाविक परतन्त्रता के दलदल से निकल जाते हैं। यह रीति हमारे देश में अब तक कुछ कुछ बनी हुई है। विस्मृति रूपी पङ्क में डूबते हुए शरणार्थी संस्कृतसाहित्य रूपी गजेन्द्र के शूंड़ में पकड़ा हुआ कमल अब तक इसी प्रथा के कारण दिखाई दे रहा है ।

इति दैशिक शास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये आर्थिक स्वातन्त्रिको
नाम तृतीयान्हिकः ।

चतुर्थ आन्हिक

स्वाभाविक स्वतन्त्रता

जिस स्वतन्त्रता रूपी शरीर का प्राण शासनिक-स्वतन्त्रता और रीढ़ आर्थिक-स्वतन्त्रता है स्वाभाविक स्वतन्त्रता उसकी चेतना है, जैसे बिना चेतना के केवल प्राण के सञ्चार और रीढ़ की दृढ़ता से किसी जीव की रक्षा नहीं हो सकती है, एवं बिना स्वाभाविक स्वतन्त्रता के केवल शासनिक और आर्थिक स्वतन्त्रताओं से मनुष्य के प्राकृतिक हित का योगक्षेम नहीं हो सकता है; क्योंकि शासनिक और आर्थिक स्वतन्त्रताओं के अतिरिक्त अन्य कारणों से मनुष्य के प्राकृतिक हित का प्रतिघात होता है, उन कारणों में से कोई तो आत्महृदय दौर्बल्य जन्य होते हैं, कोई परव्यक्ति उत्पातजन्य और कोई सामाजिक दुष्प्रवृत्तिजन्य ।

इन तीन कारणों से मनुष्य का अपना प्राकृतिक हित साधन न कर सकना अस्वाभाविक परतन्त्रता कही जाती है; उसके तीन भेद होते हैं:—

(१) अस्मिता जन्य (२) परजन्य (३) समाजजन्य।

आत्महृदयदौर्बल्यजन्य परतन्त्रता अर्थात् भय और लोभ का प्रतिरोध न कर सकने के कारण मनुष्यका अपने प्राकृतिक हित का साधन न कर सकना अस्मिताजन्य परतन्त्रता कही जाती है। यथा हम लोगों का सर्कारी नौकरी न मिलने के भय के कारण अपने बालकों को सुन्दर जातीय शिक्षा न दे सकना अथवा सर्कारी नौकरी मिलने के लोभ से उन को निरर्थक विजातीय शिक्षा देना।

परव्युत्पातजन्य परतन्त्रता अर्थात् दूसरों के किये हुए उत्पातों के कारण मनुष्य का अपना प्राकृतिक हित साधन न कर सकना परजन्य परतन्त्रता कही जाती है। यथा विश्वासघाती, देशघाती, जातिद्रोहियों के भय से बहुतों का दैशिकधर्म में हाथ न डाल सकना।

सामाजिक दुष्प्रवृत्तिजन्य परतन्त्रता अर्थात् समाज की दुष्प्रवृत्ति के कारण मनुष्यों का अपना प्राकृतिक हित साधन न कर सकना समाजजन्य परतन्त्रता कही जाती है; यथा असुर समाज की दुष्प्रवृत्ति के कारण प्रल्हाद की हरिभक्ति में बाधा पड़ना, हमारी समाज की दुष्प्रवृत्ति के कारण जातीय शिक्षा शैली का न चल सकना।

इन तीनों प्रकार की परतन्त्रता का कारण है सत्व ह्रास; सत्वह्रास से मनुष्य राग द्वेष के वशीभूत हो जाता है, राग द्वेष के वशीभूत होने से उस में दो प्रकार की दुर्बलताएँ उपस्थित होती हैं; एक बुद्धिसम्बन्धी और दूसरी हृदय-सम्बन्धी। बुद्धिसम्बन्धी दुर्बलता से मनुष्य को स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की पहिचान नहीं रहती है; हृदयसम्बन्धी दुर्बलता से उसको स्वतन्त्रता का ग्रहण और परतन्त्रता का त्याग कर सकने की शक्ति नहीं रहती है। जिस मनुष्य के बुद्धि और हृदय दुर्बल होते हैं वह हीनावस्था में उदरपरायण और सम्पन्नावस्था में इन्द्रियपरायण होता है, सबलों के लिये वह अपने प्राकृतिक हित की हानि और अपने लिये निर्बलों की प्राकृतिक हित की हानि किया करता है, प्रबलों का दास आप बने रहना और निःसत्वों को अपना दास बनाए रखना ऐसे मनुष्य की विशेषता होती है। ऐसा मनुष्य अपनी बुद्धिसम्बन्धी और हृदयसम्बन्धी दौर्बल्य के कारण अपने आप अपने प्राकृतिक हित की हानि करता है, और जब उस में कुछ बल होता है तो कामादि षड् मनोविकारों के वशीभूत होकर वह अनेक प्रकार के उत्पात मचा कर दूसरों के प्राकृतिक हित की भी हानि किया करता है; जब रागद्वेषजन्य दौर्बल्य समष्टिगत होता है तो समाज की वही शोचनीय दुष्प्रवृत्ति हो जाती है जो उस दौर्बल्य के कारण व्यक्ति की होती है। यह रागद्वेषजन्य दौर्बल्य सब प्रकार के परतन्त्रताओं का कारण होता है।

(१) जब बाह्यसन्निकर्ष स्वतन्त्रताके प्रतिकूल नहीं होते हैं तो यह अस्मिता-जन्य परतन्त्रताका हेतु होता है।

(२) कुराज्य और कुशासनकालमें जब यह व्यष्टिगत होता है तो यह परजन्य परतन्त्रता का हेतु होता है।

(३) कुराज्य और कुशासनकालमें जब यह समष्टिगत होता है तो यह समाजजन्य परतन्त्रताका हेतु होता है।

(४) राज्य और प्रजाके बीच जब अर्थ वैपर्य्य होता है और यदि उस समय यह दौर्बल्य समष्टिगत होता है तो यह शासनिक परतन्त्रताका हेतु होता है।

(५) राज्य जब विपरीतार्थी और लोभी होता है तो यह आर्थिक परतन्त्रता का हेतु होता है।

(६) इस दौर्बल्य के संस्कार जब चित्तगत होते हैं तो यह अध्यात्मिक बन्धनों का कारण होता है।

अस्मिताजन्य परतन्त्रता के मुख्य हेतु ये हैं:—

(१) तामसी भोजन—ऐसे भोजन से शरीर व्याधिग्रस्त, चित्त अप्रसन्न, बुद्धि और धृति तामसी हो जाते हैं, ऐसे शरीर और चित्त में ऐसी बुद्धि और धृति से सत्व का योग क्षेम नहीं हो सकता है; फलतः मनुष्य में रागद्वेषजनित दौर्बल्य आ जाता है जिसके कारण वह अपने प्राकृतिक हित का साधन नहीं कर सकता है।

(२) तामसी सन्निकर्ष—सन्निकर्ष अनेक प्रकार के होते हैं, तीन उन में से बड़े महत्व के होते हैं पहिला राज्यिक दूसरा सामाजिक तीसरा साहचर्यिक। इन तीनों के संयोग से जैसा युग चाहिये वैसा बन सकता है। भगवान् उशना के मतानुसार राजा जैसा युग चाहता है वैसा बना सकता है, राजा वेणु के दुःशासन से जो समय कलिकाल हो गया था वही पृथु के सुशासन से सतयुग हो गया था। समाज में जिस पदार्थ का मान होता है उसका प्रचार हो जाता है जिस ओर प्रचार रूपी पवन चलता है उसी ओर मनुष्य की बुद्धिरूपी लता झुक जाती है, जिस प्रचार ने एक समय क्षत्रियों से रणभूमि में समाधि चढ़वाई थी आज उसीने ब्राह्मणों से नौकरी के लिये नीचसे नीच कर्म करवा दिये हैं। संलाप, सहवास और उपदेश द्वारा मनुष्य में सहचरों के चित्तसंस्कारों का सञ्चार होता है, ये संस्कार महारथी को क्लीब और क्लीब को महारथी बना देते हैं; शल्य के

संलाप ने तेजस्वी कर्ण को निस्तेज बना दिया है था और विदुला के उपदेश ने निस्तेज बालक को वर्च्चोमय बना दिया था।

इन तीन प्रकार के सन्निकर्षों के एक साथ तामसी होने से मनुष्य में कभी सत्व हो नहीं सकता है, इन सन्निकर्षों को बदल कर उन को सात्विक करने वाले अवतार कहे जाते हैं।

(३) जातीय अवपात—जब किसी जाति का अवपात होता है तो सब से प्रथम उसके व्यक्ति सद्गुण हीन हो जाते हैं, तदनन्तर वे श्रद्धाहीन हो जाते हैं, श्रद्धाहीन होने से वे निःसत्व होकर रागद्वेष के वशीभूत हो जाते हैं।

परजन्यपरतन्त्रता के मुख्य हेतु ये हैं:—

(१) कुराज्य—कुराज्य का स्वाभाविक कर्म होता है कुत्सित व्यक्तियों को जमा करना, उन को अधिकार देना, प्रजा को निस्तेज निर्बुद्धि निर्वीर्य और विपर्य्यास्त करना। ऐसी अवस्था में प्रजा अपने प्राकृतिक हित का साधन नहीं कर सकती है।

(२) कुशासन—कुशासन का अवश्यंभावि परिणाम होता है बलवानों से दुर्बलों का पीड़न होना, अनीति और अन्याय से दुष्टों का साहस बढ़ना, निर्बलोंका हताश होना, इन कारणों से एक ओर तो बलवानों को परस्वहरण आदि उत्पात करने का और दूसरी ओर निर्बलों को तामसिक सहिष्णु होने का अभ्यास पड़ जाता है, जिससे उन का प्राकृतिक हित साधन होना प्रायः असम्भव हो जाता है।

(३) कुव्यवस्था—कुव्यवस्था मनुष्य समाज में सबसे भयङ्कर और घृणास्पद मायाविनी है। इस के मन्त्र से बड़े बड़े मृगराज मकड़ी के तन्तु से बान्धे जाते हैं, सबके देखते घोर अन्याय होता है किसी को प्रतिवाद करने का साहस नहीं होता है।

(४) स्त्रियों का पांसुलत्व—स्त्रियों की पांसुलता से समाज में सङ्करों की वृद्धि होती है, सङ्करों में निर्लज्जता और स्वार्थ परायणता स्वाभाविक होती है, निर्लज्ज और स्वार्थी मनुष्य का अपने स्वार्थ के लिये कोई नीच काम करने में किसी के प्राकृतिक हित का नाश करने में सङ्कोच नहीं होता है; अतः सङ्करों की वृद्धि होने से लोगों के प्राकृतिक हित साधन में बाधा पड़ती है। अतएव हमारे धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के सतीत्व पर विशेष आग्रह किया गया है और इसी कारण सङ्करों को दबाए रखने का यत्न किया गया।

(५) अर्थवैषम्य और अर्थगौरव का संयोग—जब समाज में कोई बहुत धनवान् और कोई बहुत दरिद्री होते हैं और साथ ही इस के धनवानों का मान

और निर्धनों का अपमान होता है तो समाज में धनवानों का स्वेच्छाचार और निर्धनों के प्राकृतिक हित का प्रतिघात होने लगता है।

सामाजिक परतन्त्रता का मुख्य हेतु है चिति और विराट् का ह्रास—जब किसी जाति में चिति और विराट् का ह्रास होने लगता है तो अस्मिताजन्य और परजन्य परतन्त्रताओं के कारण समष्टिगत होने लगते हैं जिसके कारण रागद्वेषजन्य दुर्बलता और औत्पातिक प्रवृत्ति समाजगत होने लगती हैं।

स्वहृदयदौर्बल्य, पर व्यत्युत्पात और सामाजिक दुष्प्रवृत्ति के कारण अपने प्राकृतिक-हित का प्रतिघात न होना स्वाभाविक स्वतन्त्रता कही जाती है वह स्वतन्त्रता तीन प्रकार की होती है:—(१) आभ्यन्तरिक स्वतन्त्रता (२) आनुत्पातिक स्वतन्त्रता (३) सामाजिक स्वतन्त्रता।

भय और लोभ के कारण अपने प्राकृतिकहित का प्रतिघात न होना आभ्यन्तरिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

परव्युत्पात से अपने प्राकृतिक हित का प्रतिघात न होना आनुत्पातिक स्वतन्त्रता कही जाती है।

सामाजिक दुष्प्रवृति के कारण अपने प्राकृतिक हित का प्रतिघात न होना सामाजिक स्वतन्त्रता कहीं जाती है।

स्वाभाविक-स्वतन्त्रता का कारण है ह्री धृति दया क्षमा तेज त्याग अभय और आर्जव का संयोग; इस संयोग को अष्टदल विभूति कहते हैं; इस विभूति के कारण मनुष्य में रागद्वेषजन्य क्लैब्य और कार्पण्य आने नहीं पाते हैं, फलतः उस में अस्मिताजन्य परतन्त्रता नहीं आती है, ह्री दया क्षमा और त्याग के कारण मनुष्य की कभी औत्पातिक प्रवृत्ति नहीं होती है, तेज और अभय के कारण वह दूसरों के उत्पातों को सहन भी नहीं कर सकता है। इस अष्टदल-विभूति का समाज में जब आधिक्य होता है तो समाज में दुष्प्रवृत्ति नहीं फैलती है, अतः सामाजिक-स्वतन्त्रता बनी रहती है।

वह अष्टदल विभूति हमारे आचार्यों के मतानुसार व्यक्ति और जाति दोनों के अभ्युदय और निश्रेयस् के लिये परमावश्यक है। किन्तु अपने को स्वतन्त्रता रूपी प्रकाश का सूर्य समझने वाले पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ऐसा नहीं है क्योंकि उन के अनुसार आभ्यन्तरिक स्वतन्त्रता कोई वस्तु नहीं है, और न वह दैशिकशास्त्र का विषय है; वह है धर्मशास्त्र का विषय। पाश्चात्य स्वतन्त्रता हमारी

स्वतन्त्रता से बिलकुल भिन्न जान पड़ती है, हमारे दैशिकशास्त्र के अनुसार पाश्चात्य स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नहीं कही जा सकती है । जब तक देश देशान्तरों में यूरप की तूती बोल रही है, जब तक अन्य देशों में उसके माल और उद्धत प्रजा की खपत हो रही है, तभी तक पाश्चात्य स्वतन्त्रता की चमक है; समय का पलटा खाने पर उसका वास्तविक रङ्ग दिखाई देने लगेगा। पाश्चात्यों के अनुसार आनुत्पातिक स्वतन्त्रता के लिये भी अष्टदल विभूति की कोई आवश्यकता नहीं है, उन के मतानुसार यह काम कानून रचना और कठोर दण्ड नीति से हो सकता है। इस प्रकार उत्पात तो कम नहीं होते हैं, किन्तु लोग निस्तेज और भ्रष्ट अवश्य मेव हो जाते हैं। पण्डितमानी यूरप वास्तव में जानता तक नहीं है कि स्वाभाविक स्वतन्त्रता क्या वस्तु है ।

हमारे आचार्यों के मतानुसार स्वाभाविक स्वतन्त्रता के मुख्य कारण ये हैं:—

(१) ब्रह्मचर्य्य—ब्रह्मचर्य से मनुष्य में ओज सहिष्णुता त्याग और मेधा का सञ्चय होता है जिससे वह शारिरिक और मानसिक विभूतियों से भर कर तेज और शील का पुञ्ज हो जाता है; ऐसे मनुष्य के प्राकृतिक हित में किसी प्रकार के व्याह्याभ्यन्तरिक प्रतिघात नहीं हो सकते हैं, उस की स्वाभाविक स्वतन्त्रता में हस्ताक्षेप करने का किसी को साहस तक नहीं होता है और न वह किसी की स्वतन्त्रता में हस्ताक्षेप करता है; यथार्थ स्वतन्त्र मनुष्य का लक्षण ही यह है कि वह जैसा स्वतन्त्र आप होता है वैसा ही स्वतन्त्र वह दूसरों को भी रखना चाहता है ।

(२) वैभव की उपेक्षा करके दैवीसम्पद् का मान करना—जिस पदार्थ का मान होता है लोग उसका सञ्चय करते हैं; अतः दैवीसम्पद् का मान होने से लोग उसको प्राप्त करने लगते हैं, उस के प्राप्त हो जाने पर स्वाभाविक स्वतन्त्रता स्वयं प्राप्त हो जाती है, कहा भी है "दैवीसम्पद विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।"

(३) ऊंचा आदर्श होना—जिस व्यक्ति अथवा समाज का आदर्श ऊँचा रहता है उस का मन कभी नीच कामों की ओर नहीं डुलता है, उस में तेज और शान्ति का संयोग रहता है, इस उत्तम संयोग से स्वाभाविक स्वतन्त्रता बनी रहती है। जब तक हमारे भारत का आदर्श ऊँचा रहा तब तक एक ओर तो वह देवराज को भी ललकार कर कहता था "गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एषते" और दूसरी ओर अपने प्राणों के समान प्यारी श्रुति की निन्दा करने वाले की भी स्तुति इस प्रकार किया करता था ।

"निन्दसि यज्ञ विधे रहह श्रुतिजातं सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम् ।
केशव ! धृत-बुद्ध-शरीर जय जय जगदीश हरे ! ॥"

ऐसे तेज और ऐसी शान्ति के प्रसाद से ही भारत में पूर्ण स्वाभाविक स्वतन्त्रता रहती थी।

इति दैशिक शास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये स्वाभाविक-स्वातन्त्रिको नाम चतुर्थान्हिकः।

पञ्चम आन्हिक

यूरपीय-स्वातन्त्र्य-दिग्दर्शन

इस अध्याय के पूर्वान्हिकों में कहे हुए उपायों से प्राचीन काल में भारत को स्वतन्त्रता की खोज करनी नहीं पड़ती थी, वरन स्वतन्त्रता को भारत की खोज करनी पड़ती थी। किन्तु दशान्तर से अब नाभ से कस्तूरी निकल गई है, केवल सूखा चमड़ा पड़ा हुआ है जिस में अबतक मृगमद के पूर्व संस्कार कुछ कुछ बने हुए हैं और चाम के सड़ जाने से उस में कुछ कुछ दुर्गन्ध भी आने लगी है; इससे चाहे कोई यह अनुमान कर लेवे कि ऐसे दुर्गन्ध युक्त चमड़े में सुगन्ध कभी रही न होगी, अथवा कोई यह अनुमान कर लेवे कि जिस पदार्थ के पूर्व-संस्कार ऐसे सुन्दर हैं वह स्वयं कैसा मनोहर न होगा। जो कुछ हो अब तो कहा यह जाता है कि प्राचीन काल में भारत स्वतन्त्रता को जानता ही नथा, अंग्रेजी साहित्य के प्रसाद से अब उसकी दृष्टि स्वतन्त्रता की ओर जाने लगी, और यह भी कहा जाने लगा है कि स्वतन्त्रतारूपी यज्ञाग्नि की अरणि यूनान, समिध् उसके यूरप की अन्य जातियां, आज्य उस का अंग्रेजी साहित्य है, यह पावन स्वतन्त्रतारूपी यज्ञाग्नि यूरप रूपी वेदी में ज्वलित हुई और वहीं फलीभूत भी होती है।

स्वतन्त्रता की अरणि कहे जाने वाले यूनान के लेखकों में सुविख्यात आचार्य्य अरिष्टोटलस् सबसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं, उनके मतानुसार स्वतन्त्रता के दो तत्त्व हैं:—

(१) बारी बारी से सब व्यक्तियों का शासक और शासित होना; अर्थात् एक बार प्रत्येक व्यक्ति को शासन् करने का अवसर मिलना और जब उसकी शासन की बारी हो चुकती है तो उसका दूसरे व्यक्ति के शासन को स्वीकार करना।

(२) मनुष्य का जिस प्रकार चाहे उस प्रकार रह सकना।

उक्त स्वतन्त्रता का पहिले तत्त्व का अर्थ ठीक समझ में नहीं आता है; क्योंकि एथन्स के समान छोटी रिआसत में एक बार सब को शासन करने का अवसर चाहे मिल जाय, किन्तु किसी बड़े राज्य में ऐसा होना तब तक सम्भव नहीं कि जब तक उसके छोटी छोटी रिआसतों में अनेक टुकड़े न किए जांय। दूसरे तत्त्व के विषय भी यह कहना पड़ता है कि जब तक समस्त समाज सत्वमय न हो तब तक मनुष्य जैसे चाहे वैसे नहीं रह सकता है, इस दूसरे तत्त्व से राजसिक और तामसिक समाजों में अनेक प्रकार के अनर्थ और उत्पात होते हैं।

अतः पाश्चात्यों ने अरिष्टोटल की स्वतन्त्रता के तत्त्वों की व्याख्या यों की है कि स्वतन्त्रता का एक अंश है नागरिकों का शासन प्रबन्ध में किसी न किसी रूप में शरीक होना, और दूसरा अंश है व्यक्तियों के निज कार्य्यों में यथाशक्य राज्य का हस्ताक्षेप न होना।

यदि उक्त व्याख्या के अनुसार नागरिकों का किसी न किसी रूप में शासन प्रबन्ध में शरीक होना स्वतन्त्रता कहा जाय; तो हिन्दुस्तानियों का अपनी इच्छा के प्रतिकूल किसी सेसन्स के मुकदमे में; जहां उनकी सम्मति को मानना अथवा न मानना जज की इच्छा में निर्भर रहता है और कभी उनकी राय की परवाह भी नहीं की जाती है, एसेसर होना भी स्वतन्त्रता कहा जायगा, क्योंकि एसेसर होना भी शासन प्रबन्ध में शरीक होना है। तो क्या ऐसी एसेसरी स्वतन्त्रता कही जा सकती है। ऐसे और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं जिन में मनुष्यों को अपनी इच्छा के प्रतिकूल शासन कार्य्य में शरीक होना पड़ता है। यदि इस प्रकार अपनी इच्छा के प्रतिकूल शासन कार्य्य में शरीक होना स्वतन्त्रता कहा जाय, तो यवन स्वतन्त्रता के उक्त दो तत्त्वों में परस्पर विरोध आजाता है। अतः इस व्याख्या से उक्त स्वतन्त्रता का अर्थ समझने में कुछ सहायता नहीं मिलती है।

उक्त स्वतन्त्रता के पहिले तत्त्व का अर्थ किन्हीं के मतानुसार निर्वाचन पद्धति का राज्य है; किन्तु इससे भी ठीक समाधान नहीं होता है, क्योंकि:—

(१) सब लोग एक प्रवृत्ति एक मत के नहीं होते हैं, अतः सब एक ही प्रतिनिधि का निर्वाचन नहीं करते हैं, भिन्न भिन्न दलों से भिन्न भिन्न प्रतिनिधि चुने जाते हैं; किन्तु राज्य प्रबन्ध उसी प्रतिनिधि के हाथ में दिया जाता है जिस के पक्ष में मताधिक्य होता है; अतः निर्वाचन पद्धति के राज्य में अल्पांश लोगों को अपनी इच्छा के प्रतिकूल अधिकांश लोगों की बात माननी पड़ती है।

(२) निर्वाचिन पद्धातिके राज्यमें बहुधा चतुर राजासिक लोगोंका ही निर्वाचन

हुआ करता है, वेही अग्रसर होते हैं; किन्तु ऐसे मनुष्यों के शासनमें लोग सुख शान्तिसे जैसे चाहें वैसे नहीं रह सकते हैं, ऐसे प्रतिनिधि उदरानलके समान होते हैं, जबतक उनके लिए बाह्यापत्तरूपी अन्न पचानेको रहता है तब तक सब ठीक निभता है, किन्तु जब वह अन्न नहीं रहता है तो वे स्वपक्षरूपी आँतोंको जलाने लगते हैं।

(३) निर्वाचन पद्धतिके राज्यमें बहुधा सम्पत्तिकी तूती बोला करती है, उसमें निर्धनों का चुनाव होना बहुत कठिन होता है, चाहे वे बड़े सुयोग्य हों। ऐसे राज्य रिपब्लिकका जामा पहने हुए प्लूटोक्रसी होते हैं। उनमें प्रजाके नाममें धनवानोंका डंका बजा करता है, अरिष्टोक्रसीसे लड़नेके समय वे प्रजातन्त्र, किन्तु लाभ उठानेके समय धनिकतन्त्र हो जाते हैं।

प्रजाप्रतिनिधि मराडलका सर्वोत्तम उदाहरण इङ्गलिस्तान की पारलियमेराट कही जाती है; परंतु उसमें भी अकिंचन लोगों की सुनाई बहुत कम होती है; इसी कारण इङ्गलिस्तान में इन दिनों बोल्सविज्म का भय हो रहा है, इसी कारण वहां साहूकार और मजदूर एक दूसरेको दबानेकी चेष्टा कर रहे हैं, इसी कारण वहां बारबार हड़ताल हो रहे हैं जिनकी दुर्गन्ध अब भारतमें भी फैलने लगी है; गत महासमर के दिनोंमें पारलियमेराटने गरीब लोगों को उनकी इच्छानुसार रहने नहीं दिया, उन से कई काम उनकी इच्छाके विरुद्ध करवाए, कसनक्रिपसनका नियम बनाकर बलात् उनको युद्धमें भेजकर कटवाया। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि पारलियमेराटरी राज्य भी अरिष्टोटलकी स्वतन्त्रताका अभिप्रेत नहीं हो सकता है, चाहे इन दिनों इङ्गलिस्तानमें संसारके अनेक देशों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता हो। किन्तु इङ्गलिस्तानकी स्वतन्त्रताका हेतु उसकी पारलियमेराट नहीं है उसके वास्तविक हेतु हैं भारत आदि इङ्गलिस्तानके अधिकृत देश; क्योंकि किसी जाति अथवा व्यक्तिका ऐहिक श्रेय बहुत कुछ उसके संसर्गियोंके गुण दोषोंसे होता है, न कि केवल उसहीके गुणोंसे; इसी प्रकार इङ्गलिस्तानकी वर्तमान अवस्था भी बहुत कुछ भारत आदि देशोंके गुणदोषोंसे बनी हुई है, यदि आज भारतके वर्तमान गुणदोषोंमें परिवर्तन हो जाय, तो कलही इङ्गलिस्तानकी अवस्था बिलकुल दूसरी होजायगी, पारलियमेराट वैसी ही रहेगी परन्तु वे कलाएं जिनसे इंग्लिस्तानमें स्वतन्त्रता इन दिनों विराज रही है अन्यथा हो जायंगी।

आचार्य्य अरस्तूकी स्वतन्त्रताका भाव चाहे जो कुछ हो किन्तु यूरप की भिन्न भिन्न स्वतन्त्रतारूपी इत्रोंमें आधार अरिष्टोटलकी स्वतन्त्रतारूपी चन्दनकाही है; पूर्व कालमें उसका पहिला तत्त्व स्वतन्त्रता समझा जाता था, जिससे रोममें पाहिले अराजक वादकी अग्नि प्रज्वलित हुई जिसकी चिनगारियां अब प्रायःसमस्त युरपमें

फैल गई हैं और धीरे धीरे सारे संसार में फैलती जारही हैं; अब इन दिनों उस स्वतन्त्रताके दूसरे तत्त्व की ओर यूरप का ध्यान गया है, इस दूसरे तत्त्व रूपी झंझाने इन दिनों यूरूपीय समाज रूपी समुद्र को आकुल कर रक्खा है। इस की व्याख्यामें वहां अनेक ग्रन्थ लिखे गये और लिखे जारहे हैं, आचार्य्य मिलका 'लिबर्टी' नामक पुस्तक एक प्रकारसे इस ही की विस्तृत व्याख्या है; यही इन दिनों सोश्यलिज्म का मूल और बोल्सविज्मका मन्त्र हो रहा है; किन्तु कहा नहीं जा सकता है कि बिना हमारे आर्ष दैशिकशास्त्र का सहारा लिए वे कहां तक सिद्धार्थ होवेंगे।

अंग्रेजी दैशिकशास्त्रमें स्वतन्त्रता की कोई एक परिभाषा नहीं देखी जाती है, उसमें अनेक भिन्न भिन्न परिभाषाएँ पाई जाती हैं, कारण इसका यह है कि इङ्गलिस्तानके लोगोंको जब जिस प्रकार के कष्ट हुए तब उस प्रकारके कष्टोंसे छुटकारा पाना स्वतन्त्रता कहा गया। अतः—

(१) किसी के मतानुसार जिस देशमें अन्नकी असस्ति नहीं होती वहां स्वतन्त्रता भी नहीं हो सकती है।

(२) किसी के मतानुसार पारलियमेण्ट पद्धतिका राज्य स्वतन्त्रता कहा जाता है।

(३) किसी के मतानुसार शासकका न होना स्वतन्त्रता कहा जाता है; जितनी शासनकी मात्रा कम होती है उतनी स्वतन्त्रता की मात्रा अधिक होती है, और पूर्ण अशासकता पूर्ण स्वतन्त्रता कही जाती है।

(४) किसीके मतानुसार अत्यन्त शासन न होना स्वतन्त्रता कहा जाता है।

(५) किसीके मतानुसार शासनका प्रजाके अन्तःकरणके अनुकूल होना और लोगोंका उस शासनको सहर्ष पालन करना स्वतन्त्रता कहा जाता है।

(६) किसीके मतानुसार सब सयाने मनुष्योंका राजकार्य्यमें हस्ताक्षेप हो सकना स्वतन्त्रता कहा जाता है।

ऐसी और भी अनेक परिभाषाएँ हैं, जिन सबका उल्लेख यहां नहीं हो सकता है।

प्रोफेसर सीलीने उक्त सब परिभाषाओंका सार लेकर स्वतन्त्रताके तीन अर्थ कहे हैं:—

पहिला, जातीय स्वतन्त्रता—अर्थात् अपनी जातिका किसी दूसरी जातिके आधीन न होना;

दूसरा, राज्यका उत्तर दायित्व—अर्थात् प्रजाके पूछने पर राज्यका अपनी कार्य्य वाहीको प्रजाको समझाना और उसकी कार्य्य वाहीके प्रजाके मतानुसार न पाए जाने पर प्रजाको राज्यमें परिवर्तन कर सकने की शक्ति होना; ✓

तीसरा, राज्यकी शक्ति का परिमित होना—अर्थात् राज्यको मनमानी कर सकनेकी शक्ति न होना।

सीलीके मतानुसार स्वतन्त्रताके उक्त तीन अर्थोंमें से तीसरा अर्थ सबसे अच्छा समझा जाता है, जितनी राज्यकी शक्ति परिमित होती है उतने लोग स्वतन्त्र कहे जाते हैं, उनके अनुसार स्वतन्त्रता सदा अच्छीही नहीं होती है, देशकाल निमित्तानुसार वह अच्छी और बुरी दोनों होती है, जब वह पूर्ण रूपमें होती है तो समाज शासक हीन होकर निरङ्कुश हो जाती है जो बात कभी अभीष्ट नहीं हो सकती है। इसके प्रतिपक्ष राज्यको जब मनमानी करने दी जाती है तो वह कालान्तरमें भयङ्कर और दुःखदायी हो जाता है; अतः राज्यशक्तिको अमर्य्याद और असीम न होने देना अत्यन्त आवश्यक है । प्रोफेसर सीलीके मतानुसार यह स्वतन्त्रताका सबसे अच्छा रूप है।

जर्मन आचार्य्य फौन ट्राइचेके मतानुसार शासक और शासितोंके बीच एक-रसवाहिता अर्थात् शासककी आज्ञाका प्रजाके अनुकूल होना और प्रजाका उस आज्ञा को शुद्ध अन्तःकरणसे स्वेच्छा-पूर्वक पालन करना स्वतन्त्रता है; इस स्वतन्त्रताके दो आधार हैं, एक ओर बुद्धिसङ्गत नियम और दूसरी ओर उनका सहर्ष पालन होना।

फौन ट्राइचेके मतानुसार यह समझना भूल है कि राज्यके दिएसे स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वस्तुतः प्रजाकी स्वतन्त्रताकी रक्षा करनाही राज्यका राज्यत्व है; जो राज्य प्रजाकी स्वतन्त्रताकी रक्षा नहीं करता है वह राज्यही नहीं; यह समझना भी मूर्खता है कि स्वतन्त्रता केवल कन्स्टिट्यूशनल मौनार्की अथवा रिपाब्लिकमें ही होती है अन्यत्र नहीं, इस उक्त मूर्खताका प्रचार इन दिनों बढ़ता जारहा है, लोगोंमें यह विचार फैलता जारहा है कि निर्वाचन पद्धतिका राज्य, जिसमें प्रजा अपने प्रतिनिधियों द्वारा आप शासनके करती है और कानून कायदे बनानेमें शरीक रहती है, स्वतन्त्रता है; यह स्वतन्त्रताका आभास मात्र है; वोट देकर शासकोंको चुननेसे ही स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होजाती है क्योंकि अधिकांश प्रजाके मतानुसार जहां शासन होता है और उनके मतानुसार कानून कायदे बनते हैं, उन लोगोंकी जो अधिकांश प्रजाके अन्तर्गत नहीं होते हैं उस शासन उन कानून कायदोंको अपनी इच्छाके प्रतिकूल पालन करना पड़ता है; अपरञ्च ऐसे राज्यमें लोगोंको फुसला कर निर्वाचित हुए पण्डितमानी लोग धीरे धीरे प्रजाकी छोटी २

बातोंमें हस्ताक्षेप करने लगते हैं। स्वतन्त्रता प्रत्येक पद्धतिके राज्यमें हो सकती है यदि उसमें शासक और शासितोंके बीच एक-रस-वाहिता हो।

वौन ट्रीकी के उक्त विचारोंका सार यह है कि प्रत्येक मनुष्यका सहर्ष उन नियमोंका पालन करना, जो उसके व्यष्टिगत और समष्टिगत हितके लिए बने होते हैं, स्वतन्त्रता कही जाती है; इस स्वतन्त्रताकी रक्षा करना राज्यका, चाहे वह किसी पद्धतिका हो, एक मात्र धर्म है।

असूया त्यागकर यदि हमारे आर्ष धर्म शास्त्रपर विचार किया जावे तो फौन ट्राइचे के विचार यों कहे जासकते हैं कि "प्रत्येक मनुष्यका अपने वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेसे देशमें स्वतन्त्रता रहती है"। अत एव

" नृपस्य वर्णाश्रम पालनं यत्. सएवधर्मो मनुना प्रणीतः।

इतिदैशिकशास्त्रे स्वातन्त्र्याध्याये यूरपीय स्वातन्त्र्य
दिग्दर्शनो नाम पञ्चमाह्निकः।

विराडध्याय

प्रथम आह्निक

राज्यविभाग

तब तक कोई पूर्व अध्यायमें कहे हुए स्वातन्त्र्यसाधनके उपायोंको काममें नहीं ला सकता है जब तक समाजमें व्यष्टिरूप और समष्टिरूपसे बाह्याभ्यन्तरिक अवस्था अनुकूल न हो; ऐसी अनुकूल अवस्था विराट्के जागृत हुए बिना हो नहीं सकती। यह पहिले कहा जा चुका है कि भगवती प्रकृतिने सामाजिक जीवोंको, परस्पर श्रेयके लिये, विराट् शक्ति दी है, जब संसारमें सत्वका आधिक्य होता है तो समाजों और व्यक्तियोंकी अवस्था सरल होती है, कोई समाज किसी समाजका और कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिका अनिष्ट नहीं चाहता है, तब उस समय यह विराट् अव्यक्त रूपसे निराधार होकर काम करता है, और जब सत्वका ह्रास रजसकी वृद्धि होने लगती है तो समाजों और व्यक्तियोंकी अवस्था जटिल होने लगती है; एक समाज दूसरे समाजका, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका अनिष्ट तकने लगता है; तो उस समय विराट् उस सामाजिक जटिलताको सुलझानेके लिये कुछ ऐसे व्यक्तियोंको अपना आधार बनाकर, कि जिनमें उसका तेज विशेषतया व्याप्त रहता है, एक व्यवस्थापक शक्ति को उत्पन्न कर देता है जो शक्ति समाजको अपनी छायामें ले लेती है, ज्यों ज्यों समाजमें जटिलता बढ़ती जाती है त्यों त्यों इस व्यवस्थापक शक्तिकी आवश्यकताभी बढ़ती जाती है।

जब इस व्यवस्थापक शक्तिका प्रभाव समाजके अधिकांशमें होता है तो वह राज्य कही जाती है।

जब उसका प्रभाव समाजके अल्पांशमें होता है तो वह व्यूह कही जाती है।

जब विराट्के अल्पांशगत होनेसे वह शक्ति प्रभावशून्य होती है तो वह संघके नामसे कही जाती है।

राज्य, व्यूह और संघ सबका मूल कारण विराट् ही है; ज्यों ज्यों विराट् प्रबल रूपसे बहुगत होता जाता है त्यों त्यों अनवस्थित समाज संघमें, संघ व्यूहमें और व्यूह राज्यमें परिणत होते जाते हैं, और ज्यों ज्यों विराट्का ह्रास

होता जाता है त्यों त्यों राज्य व्यूहमें, व्यूह संघमें और संघ अनवस्थित समाजमें भ्रष्ट होते जाते हैं और जब कालान्तरमें विराट्का लोप हो जाता है तो राज्य अति-दीर्घ-संस्कारके कारण चक्रीके समान स्वयं चलता जाता है तो कालान्तरमें वह अपने कर्त्तव्यसे भ्रष्टहो जाता है, तब यह विराट् प्रजामें संघ रूपसे प्रकट होने लगता है, फिर इन्हीं संघोंके मिलनेसे व्यूह बन जाता है और अन्तमें वह व्यूह उस कर्त्तव्य भ्रष्ट राज्यको हटाकर उसके स्थानमें नवीन राज्यको स्थापित करदेता है, यदि मिथ्या आचार विचारके कारण अथवा प्रलय क्रमके आरम्भहो जाने से अर्थात् नाशका समय आजाने से वह समाज निर्विराट्हो चुकी हो तो कोई दूसरी जाति आकर उस विराट्शून्य जातिके राज्यको निकाल कर उसके स्थानमें अपना राज्य स्थापित कर देती है, और जब उस विपर्य्यस्त जातिमें विराट्का पुनरुदय होने लगता है तो उसका ध्यान प्रथम राज्यकी ओर जाने लगता है, क्योंकि समाजरूपी-शरीरमें आमाशय राज्य होता है, जैसे शरीरमें समस्त रसोंका संचार आमाशयके द्वारा होता है एवं समाजमें समस्त भलाई बुराईका संचार राज्यकेद्वारा होता है; जैसे मिथ्या आहार बिहारके कारण अमाशयकी क्रिया थोड़ी भी न्यूनाधिक होनेसे समस्त शरीर बिगड़ जाता है, एवं राज्यके थोड़ा भी अपने धर्मसे विचलित होनेपर समस्त समाज विपर्य्यस्त हो जाती है; जैसे चतुर वैद्य किसी रोगीके शारिरिक रोगका निदान करते समय सबसे प्रथम उसके आमाशयके विषयमें पूछ ताछ करते हैं, यदि आमाशय ठीकहो अथवा उसके सुधरने की आशा हो तो रोगको साध्य समझते हैं अन्यथा रोगको असाध्य कह देते हैं, एवं चतुर दैशिकाचार्य्य भी किसी जातीय रोगका निदान करते समय सबसे प्रथम राज्यके विषयमें पूछताछ करते हैं, यदि राज्य अनुकूल हो अथवा उसके अनुकूल होने की आशाहो तो रोगको साध्य अन्यथा असाध्य समझते हैं; अतः विराट्के पुनरुदय कालमें विपर्य्यस्त जातिका ध्यान राज्यकी ओर जाना स्वाभाविक होता है।

अतएव मनुष्य समाजमें राज्य सबसे आवश्यक अङ्ग समझा जाता है, रजोगुणके आधिक्यसे उत्पन्न हुई सामाजिक जटिलताको सुलझानेके लिये विराट् इसको उत्पन्न करता है और ज्यों ज्यों समाजमें रजस्‌का आधिक्य होता जाता है त्यों त्यों राज्यकी आवश्यकता भी बढ़ती जाती है, राज्यका एक मात्र उद्देश्य है सामाजिक जटिलताको सुलझाना न कि इसको बढ़ाना, जो राज्य सामाजिक जटिलताको बढ़ाता है वह अस्वाभाविक होता है; विराट्युक्त समाजमें राज्य अस्वाभाविक होने नहीं पाता, अस्वाभाविक वह केवल विराट्हीन समाजमें होता है, किसी समाजमें अस्वाभाविक राज्यका बिभ जाना उस समाजकी निर्विराट् अवस्थाको सूचित करता है। ज्यों ज्यों राज्य अस्वाभाविक होता जाता है त्यों त्यों उसकी प्रवृत्ति सामाजिक जटिलता

को सुलझानेके बदले शासन करनेकी होने लगती है, कालान्तरमें शासन करनाही उसका मुख्य उद्देश्य हो जाता है।

संक्षेपतः सामाजिक जटिलता को सुलझाने वाला अथवा ऐसा समझाजानेवाला जन समुदाय जिसका पालन पोषण गौरव और अनुवर्त्तन समाज प्रेम अथवा भय के कारण करता है राज्य कहा जाता है।

पहिले प्रकारके जनसमुदायका पालनपोषणगौरव और अनुवर्तन सुबुद्धि लोग प्रेमके कारण और कुबुद्धि लोग भयके कारण करते हैं।

दूसरे प्रकारके जनसमुदायका पालन-पोषण-गौरव और अनुवर्तन सुबुद्धि लोग भयके कारण और कुबुद्धि लोग प्रेमके कारण करते हैं।

राज्यके मुख्य दो भेद होते हैं एक स्वराज्य और दूसरा परराज्य।

स्वराज्य उस राज्यको कहते हैं जिसके सञ्चालक अपने जाति के लोग होते हैं और उन लोगों का मुख्य प्रयोजन अपनी जाति का हित साधन होता है और उसकी निष्पत्ति भी उन्हीं के हाथ में होती है। बिना इन तीन बातोंके संयोगके कोई राज्य स्वराज्य नहीं कहा जाता है।

परराज्य उस राज्यको कहते हैं जिसके सञ्चालक अपने जाति के नहीं होते हैं अथवा अपने जाति के ऐसे लोग होते हैं कि जिनका मुख्य प्रयोजन अपनी जातिका हित-साधन नहीं होता है, अथवा उनके हाथ में स्वजाति हितकी निष्पत्ति नहीं होती है। इन तीन बातोंमें से एकके होनेसे भी राज्य परराज्य कहा जाता है।

पुनः स्वराज्य दश प्रकारका होता है:—(१) ब्राह्म (२) आर्ष (३) प्राजापत्य (४) दैव (५) मानव (६) आसुर (७) याक्ष (८) राक्षस (९) पैशाच (१०) मानव।

जब समाजमें विराट् सोलह कलाओंसे जागृत रहता है, दैवीसम्पद् समष्टि-गत होकर विराजी रहती है, सर्वत्र समभाव रहता है, कोई किसीसे छोटा बड़ा नहीं समझा जाता है, सत्वका आधिक्य होता है जिसके कारण समाजकी अवस्था सर्वत्र सरल होती है; अतः किसी प्रकारके नित्य शासनकी आवश्य कता नहीं होती है, केवल सामाजिक संहति और व्यावहारिक सौकर्य्यको बनाए रखनेके लिये समाजका केन्द्र माना हुआ कोई दक्ष जन समुदाय सौहृद शासन करता है तो राज्य ब्राह्म कहा जाता है।

ब्राह्मराज्यमें लोगोंमें अखण्ड साम्यभाव और पूर्ण आनन्द छाए रहते हैं,

श्री सोलह कलाओंसे सर्वत्र विराजी रहती है, अतः उनकी वाञ्छा केवल विश्वजन्या बुद्धिके लिये होती है, विश्वरूपा सहानुभूति और महासङ्कल्पशक्ति उनमें ऐसी व्याप्त रहती है कि उनकी समस्त चेष्टा समस्त उद्योग आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त सबको तृप्त करनेके लिये होती है, वे न किसीके देशको ताकते हैं न कोई उनके देशको ताकता है। इस राज्यका चित्र महालयपक्षके पहिले नौ दिनोंमें खिंचा रहता है जब कि घर घर देवर्षि पितृ मानवोंकी, जन्मजन्मान्तरके बान्धवों और मित्रोंकी, सप्तद्वीप निवासियोंकी, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंकी तृप्ति और सुखशान्ति चाही जाती है, सर्वत्र एक प्रकार की अलौकिक शान्ति छाई हुई रहती है, सर्वत्र विविध प्रकारके नवीन अन्नोंसे अतिथि सत्कार होता है, सर्वत्र परस्पर प्रेमपूर्वक निमन्त्रण होते हैं।

जब समाजमें विराट् कहीं कहीं निर्बल होजाता है, दैवीसम्पद् समष्टि रूपसे विराजी नहीं रहती है, सार्वलिक समभावमें कुछ त्रुटि आजाती है तथापि कोई किसीसे छोटा बड़ा नहीं समझा जाता है, सत्वका ऱ्हास, रजस् की वृद्धि होने लगती है, जिसके कारण समाजकी अवस्था कहीं कहीं जटिलहो जाती है; अतः अति मृदुल नित्य शासनकी आवश्यकता होती है, आसुरी सम्पद्के प्राबल्यको रोकेरखनेके लिये दैवीसम्पद्युक्त विशेष जनसमुदायके मतानुसार ऋजु उदार स्वतन्त्र शासन हुआ करता है तो राज्य आर्ष कहा जाता है।

आर्ष राज्यमें प्रायः ब्राह्म राज्यकी सी बातें होती हैं किन्तु साम्यभाव किञ्चित खण्डित होजाता है, विश्वजन्या बुद्धिमें कुछ शैथिल्य आजाता है, शक्तिसञ्चयकी उनको कुछ आवश्यकता जान पड़ता है। महालयपक्षके उत्तर छः दिनोंमें इस राज्यका चित्र खिंचा रहता है, जबकी पाहिले की सी विश्वतृप्तिकामना और वैसा अतिथिसत्कार और वैसा परस्पर निमन्त्रण केवल कहीं कहीं देखनेमें आते हैं, सर्वत्र शक्ति पूजाके लिये तय्यारी होने लगती है।

जब समाजमें विराट् कहीं कहीं खण्डित होजाता है, दैवीसम्पद्का अधिक ऱ्हास होने लगता है, कहीं समभाव और कहीं विषम भाव देखा जाता है, गुणभेदके अनुसार लोग छोटे बड़े माने जाने लगते हैं, सत्व और रजस् बराबर होते हैं जिसके कारण समाजकी अवस्था सर्वत्र कुछ कुछ जटिल होजाती है; अतः मृदुल नित्य शासनकी आवश्यकता होती है, रजस्से उत्पन्न हुई सामाजिक जटिलताको सुलझानेके लिये विशेषगुणवाले लोगोंसे चुने हुए दैवीसम्पद्युक्त विशेष जन समुदायकी इच्छानुसार ऋजु उदार कौलपत्य शासन हुआ करता है तो राज्य प्राजापत्य कहा जाता है।

प्राजापत्य राज्यमें साम्यभाव वैसाही रहता है कि जैसा आर्ष राज्यमें रहता है किन्तु लोगोंको नेताओंकी आवश्यकता होने लगती है उनमें विश्व जनीन बुद्धि बहुत कम रह जाती है, अन्तर्जातीय समस्याके उपस्थित होनेके कारण सर्वत्र दैशिकधर्मकी चर्चा होने लगती है, घर घर शक्तिकी उपासना होने लगती है, लोगोंके मनमें दिग्विजयकी लालसा होने लगती है । महालय पक्षका अन्त होकर नवरात्रियोंका आरम्भ होजाता है, सब बड़े घरोंमें देवासुर संग्रमकी चर्चा होने लगती है, सर्वत्र दुर्गापूजा होने लगती है सर्वत्र " जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि " की ध्वनि गूंजने लगती है ।

जब समाजमें विराट् कहीं कहीं अन्तर्लीन हो जाता है, दैवीसम्पद् कम रह जाती है, विषमभावका आधिक्य हो जाता है गुण कर्मके अनुसार लोग छोटे बड़े समझे जाते हैं, सत्वकी अपेक्षा रजस् अधिक होता है जिसके कारण समाजकी अवस्था जटिलहो जाती है; अतः यथोचित मृदुल नित्य शासनकी आवश्यकता होती है, रजस्से उत्पन्न हुई सामाजिक जटिलताको सुलझानेके लिये दैवीसम्पद्युक्त अधिष्ठाताके मतानुसार दैवीसम्पद्युक्त अन्वयागत जन समुदायके इच्छानुसार ऋजु उदार कौटुम्बिक नित्य शासन होता है तो राज्य दैव कहा जाता है ।

दैवराज्यमें सब बातें प्राजापत्य राज्यकी सी होती हैं किन्तु लोगोंको अगुओंके बदले शासकोंकी आवश्यकता होने लगती है, सञ्चित हुई शक्ति का निरोध न हो सकनेके कारण घर घर शस्त्रपूजा होने लगती है, दिग्विजय के लिये प्रस्थान होजाता है । विजयादशमीके दिन इस राज्यका चित्र खिंचा रहता है, इस दिन अब तक बड़े बड़े घरोंमें शस्त्रपूजे जाते हैं, घोड़े सजाए जाते हैं, राजाओंकी सेनाएं सन्नद्धकी जाती हैं ।

जब समाजमें कहीं कहीं विराट्का लोप हो जाता है, दैवीसम्पद् आसुरी सम्पद्को आक्रान्त किए रहती है, विषमभावका आधिक्य होजाता है, गुण कर्मके अनुसार लोग छोटे बड़े समझे जाते हैं सत्वकी अपेक्षा रजस् अधिक हो जाता है और कहीं कहीं तमोगुण भी दृष्टिगोचर होने लगता है जिसके कारण समाजकी अवस्था जटिल और विषम हो जाती है; अतः न बहुत मृदुल और न बहुत कठोर नित्यशासनकी आवश्यकता होती है, रजस्से उत्पन्न हुई जटिलताको सुलझाने, तमोगुणकी वृद्धिको रोकनेके लिये गुणवानोंका आदर करनेवाले प्रजाके अनुकूल रहनेवाले दैवीसम्पद्युक्त अन्वयागत व्यक्ति की आज्ञानुसार उदार नित्य-शासन होता है तो राज्य मानव कहा जाता है ।

मानव राज्यमें दैवराज्यके सब गुण होते हैं किन्तु दिग्विजयसे प्राप्त हुई

अतिरिक्त सम्पत्तिके भर जानेके कारण लोगोंकी रुचि विलास और आडम्बरकी ओर होने लगती है, अनेक कलाकौशलोंका आविर्भाव होने लगता है, घर घर भगवती कमलाके पद्मचिन्ह दिखाई देते हैं, दुर्गा पूजाके बदले लक्ष्मिपूजा होने लगती है। इस राज्यका चित्र आश्विनी पौर्णिमा और कार्तिकी अमावाश्याके दिन दिखाई देता है जब की घर घर सफाई और सजावट होती है, सर्वत्र दीपोत्सव मनाया जाता है, सोलह प्रकारके शृङ्गार सामग्री और सोलह प्रकारके सिक्कोंसे भगवती पद्मालयाका अर्चन किया जाता है।

जब समाजमें विराट् समष्टि रूपसे शिथिल हो जाता है, दैवीसम्पद् आसुरी सम्पद्से आक्रान्त हो जाती है, सर्वत्र विषमभाव रहता है, गुणकर्म का विचार न होकर आर्थिक अवस्था और अपकरण शक्तिके अनुसार लोग छोटे बड़े समझे जाते हैं, सत्वकी अपेक्षा तमस् और तमस्की अपेक्षा रजस् अधिक होता है, जिसके कारण समाजकी अवस्था शोचनीय होजाती है, अपना अधिकार बनाए रखनेके लिये प्रजाके मत और हितकी उपेक्षा करनेवाले आसुरी सम्पद्युक्त और अन्वयागत व्यक्ति की आज्ञानुसार कुटिल और अनुदार नित्यशासन होता है तो राज्य आसुर कहा जाता है।

आसुर राज्यमें शासक और प्रजाके बीच नित्य अर्थवैपर्यय रहता है, शासकको अपने पदकी और प्रजाको अपनी टोपीकी चिन्ता बनी रहती है, प्रजाको दबाए रखनेके लिये बल त्रास और कौटिल्यका प्रयोग होता है, अनेक उपायोंसे प्रजाका धन हरण होने लगता है, विविध प्रकारकी कूट नीतिका आविर्भाव होने लगता है, दुर्बल लोग बलवानोंके अत्याचारोंसे दुःखी होने लगते हैं, जिसकी लाठी उसकी भैंस होने लगती है, साधु सज्जनोंका अपमान और चलते पुर्जोंका मान होने लगता है, विदेशियोंको छिद्र मिलने लगता है।

जब समाजमें विराट् समष्टि रूपसे विपर्य्यस्त होकर अनेक केन्द्रोंमें विभक्त हो जाता है, आसुरी सम्पद्की अत्यन्त वृद्धि हो जाती है, सर्वत्र अत्यन्त विषमभाव रहता है, राज्यानुग्रहके अनुसार लोग छोटे बड़े समझे जाते हैं, सत्वका अत्यन्त ह्रास होकर रजस्का भी ह्रास होने लग जाता है और तमस्की वृद्धि होने लगती है और जब बलसे अथवा कौटिल्यसे पद पाए हुए आसुरी सम्पद् युक्त अधिष्ठाता की इच्छानुसार प्रजाके मत और हितकी उपेक्षा करनेवाले अन्वयागत जन समुदायकी आज्ञानुसार शासन होता है तो राज्य याक्ष कहा जाता है।

याक्ष राज्यमें आसुर राज्यकी सब बातें होती हैं, किन्तु समाज बहुनायक होकर छिन्न भिन्न होजाती है, शासक और प्रजा दोनोंकी बुद्धि भ्रष्ट होजाती

हैं, लोगोंको अन्न वस्त्रका कष्ट होने लगता है, राज्य किंकर्त्तव्यमूढ और दुर्बल होजाता है; अतः देशमें विदेशियोंकी तूतियोंका शब्द सुनाई देने लगता है।

जब समाजमें विराट् समष्टिरूपसे मूर्च्छित हो जाता है राक्षसी सम्पद्का अर्थात् उत्पात् और कौटिल्यका आधिक्य होता है, चलते पुर्जोंका मान होने लगता है, रजस्की अपेक्षा तमस् अधिक होजाता है, स्वार्थपरायण उत्पात् अथवा कौटिल्यसे उच्च पद पाए हुवे भीरु और स्वार्थी जनसमुदाय की आज्ञानुसार शासन होता है तो राज्य राक्षस कहा जाता है।

राक्षस राज्यमें याक्ष राज्यके सब दुर्गुण होते हैं किन्तु दुःखों के असहनीय हो जानेके कारण प्रजा विप्लव मचाना आरम्भ कर देती है, भिन्न भिन्न प्रकारके अनिष्टोंका आविर्भाव होने लगता है, देशमें सरासर विदेशियोंका अधिकार होने लगता है।

जब समाजमें विराट् लुप्त प्राय हो जाता है, पैशाची सम्पद्का अर्थात् दास्य और मूर्खताका आधिक्य होजाता है, उत्पाती और उपद्रवी लोगोंका मान हुआ करता है तमस्की बहुत वृद्धि हो जाती है, प्रजा के प्रत्यर्थी, परस्पर प्रतिद्वन्द्वी सदा चिन्ताकुल भीरु स्वार्थी और कुटिल जनसमुदाय की कुटिलनीतिके द्वारा शासन होता है तो राज्य पैशाच कहा जाता है।

पैशाच राज्यमें राक्षस राज्यके सब दुर्गुण होनेके अतिरिक्त देशकी ऐसी कुदशा होती है कि प्रजाको अपने लोगोंकी अपेक्षा पराये लोग अच्छे लगने लगते हैं, परस्पर द्वेष होने लगता है, एक को दुःखी देखकर दूसरा सुखी होने लगता है, विदेशी निमन्त्रित होकर बुलाये जाने लगते हैं।

जब समाजमें विराट्का लोप अथवा अन्तर्धान हो जाता है, पाशवी सम्पद् का अर्थात् उदरपरायणता और विषयभोगेच्छाका आधिक्य हो जाता है, नीच स्वार्थी, नेतृ मानियोंके बबूलोंसे समाज अनेक संघोंमें विभक्त हो जाती है, कभी दो चार छोटे बबूलोंके मिलनेसे एक बड़ा बबूला बन जाता है और कभी एक बड़ा बबूला फूट कर दो चार छोटे बबूले बन जाते हैं, सर्वत्र अर्थवैपर्य्य और पशुबुद्धि के कारण सबका एक मत होकर कोई काम करना कठिन हो जाता है, सर्वत्र पेट पालनेकी धुन छायी रहती है भय बल कौटिल्य प्रलोभनसे अलग अलग शासन हुआ करता है तो राज्य पाशव कहा जाता है।

पाशव राज्यमें पैशाच राज्यके सब दुर्गुणोंके अतिरिक्त लोग ऐसे नीच और दुर्बुद्धि होजाते हैं कि वे पराये कांचकी निछावरमें अपनी मणियोंको लुटा देने लगते हैं, पेटकी समस्या अत्यन्त जटिल होजाती है जिससे सबके होश

उड़े रहते हैं, समाजमें सर्वत्र "इरषा परुषा धनलोलुपता भरिपुरि रहै समता विगता"।

राज्योंके वर्णनमें यह दिखाया गया है कि पहिले पांच राज्योंके संस्कार अन्तर्हित हुये सूर्य्यकी गिरिसानुगत लालिमाके समान जातीय रीति और उत्सवोंमें बहुत दिनों तक दिखाई देते हैं, किन्तु दूसरे राज्योंके संस्कार विद्युत्प्रभाके समान उन राज्योंके लोप होतेही नष्ट होजाते हैं। कारण इसका यह है कि जब किसी जातिमें विराट् शक्ति रहती है तो उसकी जातीय महिमा और जातीय निष्पत्ति उसके रीति और उत्सवोंमें मिल जाया करते हैं और बहुत दिनों तक उन महिमाओं और निष्पत्तियोंकी झलक जातीय उत्सवोंमें दिखाई देती है। किन्तु जब विराट्का लोप अथवा अन्तर्धान होजाता है तो जातिका अधःपतन होने लगता है वह ऐक्यशून्य और छिन्न भिन्न होकर निश्चेतन और निश्चेष्ट होजाती है, उसको पेट पालने, दिन काटनेके अतिरिक्त और कुछ सूझताही नहीं; अतः उस जातिमें कोई ऐसी बात नहीं होती है जो जातीय उत्सवोंमें मनाई जानेके योग्य हो और न उसमें अपनी जातीय महिमा और निष्पत्तिको जातीय रीतिसे मना सकनेकी शक्ति और श्रद्धा होती है। अतः दूसरे पांच प्रकार के राज्योंके संस्कार जातीय रीति और उत्सवोंमें नहीं देखे जाते हैं।

इन दस प्रकारके राज्योंके संयोगसे बहुत प्रकारके राज्य हो जाते हैं; किन्तु उक्त दस प्रकारके राज्योंमें से जिसका जिसमें अधिकांश होता है वह उसीके अन्तर्गत समझा जाता है; यथा यदि किसी राज्यमें कुछ अंश मानव राज्यका हो और अधिकांश आसुर राज्यका हो तो वह आसुर राज्यके अन्तर्गत समझा जाता है, अथवा यदि किसी राज्यमें अधिकांश मानव राज्यका और अल्पांश आसुर राज्यका हो तो वह मानव राज्यके अन्तर्गत समझा जाता है।

उक्त दस प्रकारके राज्योंमें पहिले पांच भद्र राज्य और दूसरे पांच भ्रष्ट राज्य कहे जाते हैं, भ्रष्ट राज्य विलोम रीतिसे भद्र राज्योंके ही भ्रष्टरूप होते हैं, यथा पाशवराज्य ब्राह्मराज्यका, पैशाच्य राज्य आर्ष राज्यका भ्रष्टरूप होता है। किन्तु इससे यह नहीं समझाना चाहिए कि जब ब्राह्म आदि भद्र राज्योंका पतन होता है तो वे तुरन्त पाशव आदि भ्रष्ट राज्योंमें परिवर्तित हो जाते हैं। किन्तु समझाना केवल यह चाहिए कि मनुष्य समाजकी उन्नतिकी जो कोटि ब्राह्म आदि राज्योंसे सूचित होती है, अवनति की वही कोटि पाशव आदि राज्योंसे सूचित होती है, अर्थात् सामाजिक उन्नतिकी जो कोटि भद्र राज्योंसे सूचित होती है सामाजिक अवनति की वही कोटि विलोम रीतिसे भ्रष्ट राज्योंसे सूचित होती है। सामाजिक उन्नति और अवनतिकी एकही कोटि सूचित करने और कुछ कुछ

बाह्यरूपमें समानता होनेसे भद्रराज्योंका अपने अष्टरूप राज्योंसे कुछ सादृश्य नहीं होता है। किन्तु मानव राज्यका आसुर राज्यसे रूपमें बहुत सादृश्य होता है और जब मानव राज्यका पतन होता तो वह अपने अष्टरूप आसुर राज्यमें परिवर्तित हो जाता है; राज्योंमें भेद केवल तत्त्वका होता है। तत्त्वभेदके अनुसार ही उनमें वास्तविक भेद हुआ करता है, जैसा तत्त्व होता है वैसा राज्य होता है, तत्त्वके परिवर्तनके अनुसारही राज्यमें भी परिवर्तन होता है।

प्रत्येक राज्यमें दो बातें होती हैं:—एक तत्त्व और दूसरा रूप।

समाजमें दैवी आसुरी राक्षसी पैशाची पाशवी सम्पदोंकी मात्रा राज्यका तत्त्व कहा जाता है।

राज्यतत्त्व पांच प्रकारके होते हैं:—दैव, आसुर, राक्षस, पैशाच, पाशव।

समाजकी शासक-विधान-पद्धति अर्थात् शासक बनानेकी रीति राज्यका रूप कहा जाता है।

राज्यरूप तीन प्रकारका होता है:—दक्ष शासन, प्रतिनिधि शासन, आसकज शासन।

कार्य्य साधनमें प्रवीण लोगोंके हाथमें शासन होना दक्ष शासन कहा जाता है।

समाजके प्रतिनिधियोंके हाथमें शासन होना प्रतिनिधि शासन कहा जाता है।

वंशपरम्परागत लोगोंके हाथमें शासनका होना आसकज शासन कहा जाता है।

हमारे आचार्य्योंके मतानुसार राज्यमें रूपकी अपेक्षा तत्त्व अधिक आवश्यक पदार्थ समझा जाता है, तत्त्वके अनुसारही बहुधा राज्यका रूप होता है, जब तत्त्व पूर्णतया दैव होता है अर्थात् जब दैवी सम्पद् समाजमें समष्टि रूपसे व्याप्त रहती हैं तो राज्य ब्राह्मरूपमें रहता है और जब दैवी तत्त्वका लोप होकर पाशव तत्त्वका आधिक्य होता है अर्थात् जब समाजमें दैवीसम्पद्का लोप होकर पाशवी सम्पद् समष्टिरूपसे व्याप्त होती है तो राज्य पाशवरूपमें होता है। कारण इसका यह है कि दैवी सम्पद्के उदयापवातके अनुसार विराट्का भी उदयापवात होता है, और जब विराट् समाजमें पूर्णरूपसे उदय हुआ रहता है तो समाजमें कहीं किसी प्रकारका अर्थ वैपरत्य और भेद नहीं रहता है। अतः ऐसी समाजमें किसी प्रकारके नित्यशासनकी आवश्यकता नहीं होती है। और जब समाजमें विराट्का लोप अथवा अन्तर्धान हो जाता है तो समाजमें स्वार्थका प्राबल्य हो जाता है

जिससे समाज तितर बितर होकर अत्यन्त दुर्बल और बुद्धिहीन हो जाती है जिसमें कुछ बल और कुछ कौटिल्य होता है वही समाजका अग्रसर और शासक बन बैठता है । अपरञ्च दैवीसम्पद्से मनुष्यका आदर्श ऊँचा और तदितर सम्पदोंसे नीचा रहता है, आदर्शके अनुसारही मनुष्योंके गुणकर्म हुआ करते हैं, जैसे गुण कर्मवाले मनुष्य होते हैं वैसी उनकी समाज होती है और जैसी समाज होती है वैसा राज्य होता है । अतः दैवीसम्पद्के समष्टिरूपसे व्याप्त रहनेसे समाजका आदर्श और उसके गुणकर्म बड़े ऊँचे रहते हैं, ऐसी समाजमें सर्वत्र सख्यभाव रहता है, ऐसी अवस्थामें ब्राह्म राज्यके अतिरिक्त और कोई राज्य हो नहीं सकता है । और जब दैवी सम्पद्का समष्टिरूपसे ह्रास होने लगता है तो समाजका आदर्श और उसके गुणकर्म नीच होने लगते हैं ऐसी समाज रजस् और तमस्के वशीभूत होकर पशुवृत्ति को धारण करने लगती है, जिसके हाथमें दण्ड होता है वही समाजका स्वामी बन बैठता है । दैवीसम्पद्वालों के कर्म स्वभावतः "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" हुआ करते हैं, तदितर सम्पद् वालोंके कर्म स्वहिताय स्वसुखाय हुआ करते हैं । अतः दैवीसम्पद्के समष्टि रूपसे व्याप्त रहन से समाजमें परोपकारका चलन हो जाता है; शासक और समाजमें, व्यक्ति और व्यक्तिमें परस्पर हितसाधन हुआ करता है, कभी कहीं किसी प्रकारका भेद और अर्थ वैपर्य्य नहीं होता है, सर्वत्र साम्य और सन्तोष छाया रहता है जो बातें केवल ब्राह्मराज्यमें पाई जाती हैं । और जब दैवीसम्पद्का पूर्णरूपसे लोप हो जाता है तो समाजमें सर्वत्र स्वार्थसाधन का चलन होजाता है; शासक और समाजमें, व्यक्ति और व्यक्तिमें परस्पर अर्थवैपर्य्यहो जाता है, सर्वत्र वैषम्य और असन्तोष छाया रहता है जो बातें केवल पाशव राज्यमें होती हैं । दैवी सम्पद्से साम्य वृद्धि और आसुरी सम्पद्से वैषम्य वृद्धि होती है; अतः जिस समाजम जितनी दैवीसम्पद् होती है उसमें उतना साम्य और जितनी उसमें आसुरी सम्पद् होती है उसमें उतना वैषम्य होता है; पूर्ण साम्यसे ब्राह्म राज्यकी और पूर्ण वैषम्यसे पाशव राज्यकी उत्पत्ति होती है । संक्षेपतः दैवीसम्पद् जब समष्टिरूपसे व्याप्त होती है तो विराट् शक्ति, उच्च आदर्श, बहुजनाहितेच्छा साम्यभाव पराकाष्ठा में पहुँचे रहते हैं; जब दैवीसम्पद्का लोप होने लगता है तो उक्त सद्गुणोंका सङ्कोच होने लगता है और राज्य भी क्रमशः भ्रष्ट होते रहते हैं । अतः तत्त्वके भ्रष्ट होने पर केवल रूपसे कोई राज्य श्रेयस्कर नहीं हो सकता है, ऐसी अवस्थामें रूप चाहे कैसाही हो किन्तु परिणाम उसका निकृष्टही होता है, जब तत्त्व भ्रष्ट होजाता है तो दक्ष शासन रूपमें शासन छद्म और अभिसन्धानमें दक्ष लोगोंके हाथमें होता है, प्रतिनिधिशासनरूपमें प्रतिनिधान केवल विशेष विशेष व्यक्तियोंका हुआ करता है, शासकज शासन रूपमें शासक और समाजमें अर्थ वैपर्य्य हुआ करता है; यूरप इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है जो इन दिनों एक प्रकारसे राज्यरूपोंकी मानों परीक्षणशाला बना हुआ है, राज्योंकी इस महापरीक्षण

शालामें शासकजशासन और प्रतिनिधिशासनकी परीक्षाहो चुकी है और अब दक्षशासन रूपकी परीक्षाहो रही है; किन्तु दशा यूरपकी किसी राज्य रूपमें अभीष्ट नहीं हुई, अभीष्ट होना क्या वह इससे भी अधिक शोचनीय होती यदि एशियाखण्डमें कुछ विशेष दुर्गुण न आजाते, यदि सुएजकी नहर खुदते समय मिश्र भूलमें न पड़ता और भारतको अपने दैशिक शास्त्रकी विस्मृति न हो जाती तो आज इङ्गलिस्तानके अर्थशास्त्र और दैशिक शास्त्र बिलकुल दूसरे ढङ्गके होते। यूरपकी इन दिनों जो कुछ आपेक्षिक सुदशा देखी जारही है वह उसके राज्यरूपों का परिणाम नहीं है बरन वह संसारके कई अन्य देशोंके दुर्गुणोंका परिणाम है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जातियोंका उदय सदा केवल आत्मगुणोंके कारणही नहीं हुआ करता है बरन कभी कभी वह अपनी आसङ्गत जातियोंके अवगुणोंके कारण भी हुआ करता है। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि बिना तत्त्वकी उन्नति हुए राज्य और समाजकी वास्तविक उन्नति कदापि नहीं हो सकती है। जैसा जैसा राज्य तत्त्वमें परिवर्तन होता है वैसा वैसा समाजमें उसका परिणाम होता है।

सब भद्र राज्योंमें अधोलिखित बातें सर्व सामान्य होती हैं:—

(१) प्रजाके सुख दुःखसे राज्यको सुखदुःख होना।

(२) शासकका सदा प्रजाके अनुकूल रहना।

(३) शासननीतिका स्पष्ट और सरल होना।

(४) शासकका निःशङ्क और प्रजाका निर्भय रहना।

(५) श्रद्धा, सन्तोष और विश्वासका समष्टिगत होना।

भ्रष्ट राज्योंमें अधोलिखित बातें सर्व सामान्य होती हैं:—

(१) प्रजाके सुखदुःखमें राज्यका उदासीन रहना अथवा उसको विपरीत वेदना होना।

(२) शासकका प्रजासे सदा अर्थवैपर्य्य रहना।

(३) शासननीतिका कुटिल और दुर्गम होना।

(४) शासकका प्रजासे शङ्कित और प्रजाका शासकसे भयभीत रहना।

(५) अश्रद्धा, असन्तोष, अविश्वासका समष्टिगत होना और बराबर उत्पात और विप्लवोंका होते रहना।

भद्र राज्य और भ्रष्ट राज्योंमें उक्त पांच प्रकारके भेद होते हैं; इसके अतिरिक्त दो प्रकारके भेद और भी होते हैं:—

(१) भद्र राज्योंका परिवर्तन क्रमशः क्रमपूर्वक होता है किन्तु भ्रष्ट राज्योंका परिवर्तन शीघ्र और बिना क्रमके होता है।

(२) भद्र राज्योंकी स्थिति प्रजाकी समृद्धि और अभ्युदय पर निर्भर होती है, किन्तु भ्रष्ट राज्योंकी स्थिति कूट नीति पर निर्भर होती है।

यवनाचार्य्य अरिष्टोटलके मतानुसार भ्रष्ट राज्योंकी स्थितिके लिये तीन बातें आवश्यक हैं।

(१) प्रजाको दरिद्री और नाचवृत्ति बनाना;

(२) लोगोंमें परस्पर विश्वास नहीं होने देना;

(३) प्रजाको निस्सहाय और पौरुषहीन बनाकर किसी कामका न रखना;

क्योंकि कोई दरिद्री और नीच वृत्ति व्यष्टि अथवा समष्टि राज्यके विरुद्ध उठ नहीं सकती; भ्रष्ट राज्यों की कुशल तभी तक होती है कि जब तक लोगों में परस्पर विश्वास नहीं होता; निस्सहाय और पौरुषहीन अवस्थामें राज्य प्रतिरोध करना असम्भव होता है और असम्भव कार्य्य में कोई हाथ डालना नहीं चाहता है। अतः लोगोंके दरिद्री, नीचवृत्ति, परस्पर अविश्वासी, निस्सहाय और पौरुषहीन होने से किसी के मनमें राज्य प्रतिरोध करने का विचार उठ नहीं सकता है। अतः इन बातों पर भ्रष्ट राज्योंकी स्थिति निर्भर होती है; अतः ये तीन बातें अर्थात् लोगोंको दरिद्री और नाचवृत्ति बनाना, लोगोंमें परस्पर विश्वास नहीं होने देना, प्रजाको निस्सहाय और पौरुषहीन बनाना भ्रष्ट राज्यका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। विस्तारपूर्वक यह कहना चाहिए कि उच्च आकांक्षावाले लोगों को दबाए रखना; वशमें न आने वाले तेजस्वी लोगोंको निकाल बाहर करना, लोगोंको मेलमिलाप, समाजसमिति, और शिक्षासम्बन्धी बातें न करने देना; नगरमें आए हुये विदेशियोंकी बड़ी देखाभाली करना, उनका पीछा करना, लोगों को दासों के समान रख कर उनमें ऊँचे विचार नहीं होने देना, लोगोंके विचारों और कामोंका पता लगानेके लिये सदा गुप्तचरोंको फैलाए रखना, जहां जहां सभाएं होती हैं वहां वहां पहिलेसे ही जासूसोंको को पहुँचा देना, जासूस और मुखबिरों की डर फैलाकर लोगोंका खुलकर बातें करना बन्द करा देना; लोगों के उद्योगका तत्काल पता लगा लेना, उनमें गालीगलौच लड़ाई झगड़ा करवाना, सखा मित्रोंमें, किसान जमीन्दारोंमें, रिआया सर्दारोंमें, गरीब मालदारोंमें फूट कराना; प्रजाको सदा तङ्ग रखना, करों को सदा बढ़ाते रहना, लड़ाई झगड़ोंमें

उलझा कर प्रजाका ध्यान सदा बटाए रखना, स्त्रीजनों को स्वैरिणी बनाने और गुलामोंको खुश रखनेका उद्योग करना ताकि स्त्रीजन अपने पुरुषोंके और गुलाम अपने मालिकोंके रहस्यों को खोल दें; उल्लू, मुखिया और नीच खुशामदखोरोंका मान करना; दुष्ट नीच चाटुकारोंको अच्छा समझना; उदार स्वातन्त्र्यप्रेमी लोगोंसे घृणा करना, उनके साथ निष्ठुर व्यवहार करना; संक्षेपतः उन सब उपायोंको काम में लाना चाहिये कि जिनको पारसी और बर्बर राज्य दासत्वको चिरस्थायी करनेके लिये काममें लाते हैं।

भ्रष्ट राज्यों मे इन उक्त उपायोंके अतिरिक्त अधोलिखित उपाय भी काममें लाने चाहिएं: भ्रष्ट राज्यने भद्र राज्य जैसा भासमान होनेका यत्न करना; अपनी शक्ति और अधिकारोंको अक्षत रखनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करना; इच्छुक अनिच्छुक सबको अपने अधिकारमें रखना; युक्ति और चातुर्य्यसे अपनी सब बातोंमें भद्र राज्यका पानी चढ़ाए रखना, सार्वजनिक अर्थकी बड़ी खबरदारीसे करना; जमा खर्चका ठीक ठीक हिसाब रखना; ऐसा दिखलाए रहना कि प्रजासे कर रूपमें प्राप्त होनेवाला अर्थ प्रजाके ही काममें लगाया जा रहा है, न कि किसी निज काममें; प्रजाको आक्रान्त रखनेके लिये सदा ऊँची और प्रभावशालिनी आकृति रखना; नीतिज्ञोंका रूप धारण किये रहना; भोगविलासोंका परिमित रूपसे होना अथवा कमसे कम प्रजाको ऐसा दिखलाना; छल और आभाससे लोगोंके मनमें इस बातका विश्वास करा देना कि सबके शीलकी रक्षा हो रही है; पूर्व राज्यकी अपेक्षा अपनेको अच्छा दिखलानेका यत्न करना, नगरोंको सुन्दर और समृद्ध रखनेका यत्न करना ताकि वह राज्य प्रजा रक्षकसा जान पड़े, सदा आस्तिक वेष धारण किए रहना, स्वतन्त्र न होने देने के लिये गुणवानोंका भी आदर करना ताकि वे अपने लोगोंसे अलग होकर विदेशियोंमें मिलनेका यत्न करने लगें जिससे वे पक्ष हीन होकर निकम्मे हो जांय और स्वतन्त्र होनेका यत्न न करें। भलाई अपने हाथ से करना और बुराई अपने आधीनोंके हाथसे करवाना; किसी को बहुत नहीं बढ़ने देना और विशेष विशेष व्यक्तियोंको तो बिलकुल ही नहीं बढ़ने देना; लोगोंमें परस्पर मेल और सहानुभूति नहीं होने देना, किसी बड़े पद अथवा अधिकारमें रखनेके लिये निस्तेज मनुष्योंको चुनना; धीरे धीरे अव्यक्त रूपसे प्रजाके स्वत्वोंका हरण करना; प्रजाके साथ किसी प्रकार शारीरिक असभ्य व्यवहार न करना, अपने प्राणोंकी परवाह न करनेवाले लोगोंसे सावधान रहना; धनी और निर्धनी दोनोंकी बराबर रक्षा करना; एकको दूसरेकी हानि कर सकनेकी शक्ति न होने देना; विशेष सामर्थ्यशाली मनुष्योंको अपनेमें मिला लेना, इस उपायसे सब प्रकारके विरोध और विप्लव एकदम शान्त कर दिये जा सकते हैं।

[अरिस्टोटलका पोलिटिक्स अ० ३ परि० ११]

इसी प्रकारके उपाय हमारे कणिक और कौटिल्य नामक आचार्य्योंने भी कहे हैं।

किन्तु भ्रष्ट राज्य चाहे कैसी ही कूट नीतिको काममें लाएं किन्तु वे चिरञ्जीव नहीं हो सकते हैं; क्योंकि छलाचार बहुत दिनों तक सहारा नहीं दे सकता है, ऐसे राज्य वाले प्रजाकी क्रोधाग्निमें भस्महो जाते हैं अथवा उनके अभिनयमें पटाक्षेप होकर देशरूपी रङ्गशालामें परराज्यका प्रवेश हो जाता है।

परराज्य मुख्य दो प्रकारका होता है : (१) दत्रिमक (२) द्वौमुषायणक।

दत्रिमकराज्य उस राज्यको कहते हैं कि जिसमें शासन ऐसे विदेशियोंके हाथमें होता है कि जिन्होंने अपने देशसे सम्बन्ध बिलकुल विच्छेद करके अपनेको शासित देशसे संयुक्त कर लिया हो; यथा भारतमें मुग़ल राज्य।

पुनः दत्रिमक राज्यके भी दो भेद होते हैं:—(१) गोधुक्, (२) महिषधुक्।

गोधुक् उस दत्रिमक राज्यको कहते हैं कि जो प्रजारूपी गोको दुःख दिये बिना, बिना उसकी सुखसमृद्धि की उपेक्षा किये, उससे दुही हुई विभूतिका भोग करता है; यथा भारतमें अकबरका राज्य।

महिषधुक् उस दत्रिमक राज्यको कहते हैं जो प्रजापीडन करके, प्रजाके हिताहित की उपेक्षा करके उससे बलात् निचोड़ी हुई विभूतिका भोग करता है; यथा भारतमें अल्लाउद्दीनका राज्य होना कहा जाता है।

द्वौमुषायणकराज्य उस राज्यको कहते हैं कि जिसमें शासन ऐसे विदेशियोंके हाथमें होता है कि जिनका अपने देशसे सम्बन्ध पूर्ववत् विद्यमान् रहता है और जो शासित देशको अपनी भोग्य वस्तु समझते हैं। यथा अफ्रिकामें यूरपवालोंकी रियासतें।

पुनः द्वौमुषायणकराज्यके भी दो भेद होते हैं:— (१) विशसितृक (२) व्याधक।

विशसितृक उस द्वौमुषायणकराज्यको कहते हैं कि जो विधि पूर्वक क्रमशः शासित जातिको नष्ट करके अपनी जातिको पुष्ट करता है; यथा वैदिक कालमें दस्युओंके उपर आर्योंका राज्य होना कहा जाता है।

व्याधक उस द्वौमुषायणकराज्य को कहते हैं कि जो बिना क्रम बिना नियम

शाशित जातिको नष्ट करके अपनी जातिको पुष्ट करता है; यथा अमेरिकामें स्पेन का राज्य।

इन चार प्रकारके राज्योंके संयोगसे और भी अनेक प्रकारके पराराज्य होते हैं।

पराराज्य भेदके मुख्य दो कारण हैं, एक शासकोंका अपने देशसे सम्बन्ध और दूसरा शासित जातिमें विराट्‌की अवशिष्ट मात्रा। शासकोंके स्वदेश-सम्बन्धके अनुसार उनका शासित जातिसे अर्थवैपर्य्य होता है; क्योंकि जिस परजातीय शासकका अपने देशसे जितना सम्बन्ध बना रहता है उसको उतना अपनी जातिका भरण पोषण करना पड़ता है और तदनुसार शासित जातिसे उनका अर्थवैपर्य्य होता है। जब परजातीय शासकका अपने देशसे सम्बन्ध छूट जाता है तो उनके अपने कुछ व्यक्तियोंका भरणपोषण करना पड़ता है न कि अपनी समस्त जातिका। अतः शासित जातिसे उसका बहुत अर्थवैपर्य्य नहीं होता है। शासित जातिमें विराट् जितना अधिक अवशिष्ट रहता है उतना परजातीय शासक उसको कम दबा सकते हैं; क्योंकि शेरके बच्चेसे कोई छेड़खानी करना नहीं चाहता है, न किसी की इच्छा काँटोंमें चलनेकी होती है, न कोई सविराट् जातिको रुष्ट करनेका साहस रखता है; किन्तु बैलके कन्धे में सभी जुआ रखते हैं सभी मखमलमें चलना पसन्द करते हैं, विराट्‌हीन जातिको सभी रौंध लेते हैं; अतः शासित जातिकी अवशिष्ट मात्रानुसार पराराज्यकी शासन पद्धति हुआ करती है। अतः यदि परजातीय शासकका अपने देशसे सम्बन्ध छूट गया हो और यदि शासित जातिमें विराट्‌की शेषांशमात्रा अधिक हो तो राज्य गोधुक् रूपमें रहता है, यदि शासित जातिमें विराट्‌की शेषांशमात्रा कमहो तो राज्य महिषधुक् रूपमें होता है। यदि शासकोंका अपने देशसे सम्बन्ध पूर्ववत् बनाहो और यदि शासित जातिमें विराट्‌की शेषांशमात्रा अधिकहो तो राज्य विशसितृक रूपमें होता है, यदि शासित जातिमें विराट्‌की शेषांशमात्रा कमहो तो राज्य व्याधक रूपमें होता है।

दत्रिमक और द्रौमुषायणक राज्योंमें मूलमें केवल यह एक छोटा भेद होता है कि दत्रिमक राज्यका अपने देशसे कुछ सम्बन्ध नहीं होता है, द्रौमुषायणक राज्यका अपने देशसे सम्बन्ध पूर्ववत् बना रहता है; किन्तु परिणाममें इन राज्योंमें बड़े महत्त्वके भेद होते हैं; एक यह कि दत्रिमक राज्यमें शासित जातिके अर्थ-साधनोपायोंमें बहुधा परिवर्तन नहीं होता है, वरन् कभी कभी वे पहिले की अपेक्षा सुधर जाते हैं; किन्तु द्रौमुषायणक राज्यमें शासित जातिके अर्थसाधनोपाय दिन दिन क्षीण होते जाते हैं; दूसरा यह कि दत्रिमक राज्य कभी कभी कुछ पीढ़ियों पीछे स्वराज्यमें परिवर्तित होजाते हैं अथवा वे स्वराज्य जैसे होजाते हैं; क्योंकि अपने देशसे सम्बन्ध छूट जानेसे दत्रिमक राज्यके बड़े छोटे कर्मचारी

प्रायः शासित जातिके ही लोग होते हैं, उसकी सब प्रकारकी कार्य्यवाही प्रायः शासित जातिके लोगोंके द्वारा ही होती है, उसका हिताहित बिलकुल शासित जातिके लोगोंके हाथमें होता है, विराट्के जागृत होते ही अनायास वह स्वराज्यमें बदल जाता है, अथवा स्वयं स्वराज्यका रूप धारण कर लेता है, किन्तु द्रौणुष्या-पशुक राज्य कभी स्वराज्यमें परिवर्तित नहीं होते हैं, और जब होते भी हैं तो वे बिलकुल एक दूसरे प्रकारके स्वराज्य होते हैं, उनसे शासित जातिका कुछ सम्बन्ध नहीं होता है, वे शासक जातिके लोगोंके स्वराज्य होते हैं, जब शासित जाति नष्ट प्राय होजाती है, उसकी जागृति की सम्भावना जाती रहती है और शासक जातिके लोग बल और संख्यामें पर्याप्त होजाते हैं उनको सर्वथा अपनेमें भरोसा होजाता है, रहते रहते उनको वहां पीढ़ियाँ बीत जाती हैं तो वे शासित देशको अपना देश समझने लगते हैं, अपने पूर्व देशसे उनकी ममता जाती रहती है, अपनी राज्यकार्य्यवाहीमें उनको अपने पूर्व देशके राज्यका हस्ताक्षेप अच्छा नहीं लगता है; अतः वे उससे स्वतन्त्र होनेका उद्योग करते हैं और जब वे अपने इस उद्योगमें कृतकृत्य होजाते हैं तो उनका राज्य उनके लिये स्वराज्यमें परिवर्तित होजाता है, न कि शासित जातिके लोगोंके लिये; अमेरिकाके संयुक्त राज्य और औष्ट्रेलियाकी रिपब्लिक इस स्वराज्यके उदाहरण हैं ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि परराज्य बहुत दिनोंतक गोधुक् रूपमें नहीं रह सकता है; क्योंकि गोधुक् राज्यके लिये चार बातोंका संयोग होना चाहियेः— (१) राज्यकी सात्विकवृत्ति (२) राज्याधिकारियोंका सदाचारी होना (३) शासकजातिके लोगोंका शासितजातिके लोगोंसे बल और संख्यामें कम होना (४) शासितजातिमें विराट्की जागृति की सम्भावना रहना । किन्तु ऐसा संयोग बहुत दिनों तक रह नहीं सकता है; अतः गोधुक्राज्य कालान्तरमें या तो स्वराज्यके अंकुर देने लगता है जैसा कि ऊपर दिखलाया जाचुका है; अथवा महिषधुक्रूप धारण करने लगता है, क्योंकि गोधुक् राज्यमें शासित जाति तन्द्रालु हो जाती है, तन्द्राके कारण उसको परशासनका अभ्यास पड़ जाता है, परशासनके अभ्याससे वह निस्तेज होती चली जाती है, निस्तेज होनेसे उसमें तामस भर जाता है, तमोगुणके कारण उसके सुख धृति और कर्म सब तामसिक होजाते हैं; अतः सर्वथा उसका प्रपात होने लगता है, तारतम्यसे शासक जातिका उदय होने लगता है, उसके मूल दृढ़ होते जाते हैं, उसको अपनेमें भरोसा होने लगता है; फलतः वह शासितजातिकी उपेक्षा करने लगती है और अन्तमें गोधुक् राज्य महिषधुक्रूप धारण करने लगता है । यदि महिषधुक् राज्यमें शासितजातिमें विराट्का उदय न हुआ और शासकजाति बहुत बढ़ चुकी हो तो फिर शासितजातिका सम्हलना कठिन होजाता है; क्योंकि राज्यके शनैः शनैः बदलनेसे अधोमुखी शासितजातिको कुछ भी परिवर्तन मालूम नहीं पड़ता है

वह ऊँघती चली जाती है, वंश परम्पराके अभ्यासके कारण उस जातिमें पराधी-नता एक प्रकारसे अभिनिवेश होकर समाजाती है, तब यन्मा काधागत हो जाता है।

महिषयुक् राज्यमें गोधुक् राज्यके समान प्रायः सब बातें होती हैं केवल मारकूट खींचातानीके कारण कभी कभी शासित जाति चकरबकर करने लगती है जिसके कारण उसको पुचकारनेके लिये शासकोंको अपनी शासननीति बदलनी पड़ती है।

विशसितृक राज्यमें शासकोंको अपने लाभके लिये शासितोंकी भौतिक सुख समृद्धिका ध्यान बना रहता है, एवं और बातें भी गोधुक् राज्यके समान होती हैं, किन्तु शासित जातिके तेजके साथ उसकी संख्याका भी ह्रास होता चला जाता है, गोधुक् राज्यमें जो अनिष्ट परिणाम एकधा और शनैः शनैः होता है वह इस राज्यमें अनेकधा और शीघ्र होता है; क्योंकि गोधुक् राज्यका अर्थवैपर्य्य शासित जातिके किसी किसी व्यक्तिसे होता है; किन्तु विशसितृक राज्यका अर्थवैपर्य्य समस्त शासितजातिसे होता है।

व्याधक राज्यमें खुले मैदान मारकाट हुआ करती है, किसीके शरीर सम्पत्ति की कुशल नहीं रहती है, किसीकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती है, सर्वत्र कष्ट और त्रास फैला रहता है; किन्तु इस राज्यमें नित्यके संघर्षणके कारण शासितजातिमें तेजके पुनरुदयकी सम्भावना होती है, यह सम्भावना केवल तब होती है कि जब परराज्यने आरम्भसे ही व्याधकरूप धारण कियाहो; किन्तु विशसितृकसे शनैः शनैः व्याधक रूप धारण किए हुए राज्यमें ऐसी सम्भावना नहीं रहती है, शनैः शनैः व्याधक रूप धारण किये हुए राज्यमें शासित जातिको कुष्ठीके समान अपने अंगोंका जलना मालूम नहीं होता है।

परराज्यकी शासन नीति बहुधा आधीन राष्ट्रकी प्रकृति पर भी निर्भर होती है। आधीन राष्ट्र चार प्रकारके होते हैः—(१) व्याघ्रक (२) हस्तिक (३) महिषक (४) सुरभिक।

विराट्की शेषांश मात्राके आधिक्यके कारण जिस राष्ट्रका शासन कठिन होता है जिसको अपने वशमें रखनेके लिये व्यय बहुत करना पड़ता है किन्तु लाभ उससे कुछ भी नहीं होता है उसको व्याघ्रक राष्ट्र कहते हैं।

व्याघ्रक राष्ट्रसे कोई किसी प्रकारकी छेड़खानी नहीं करता है, उसकी प्रवृत्तिके अनुसार शासन होता है; ऐसा राष्ट्र सदा स्वतन्त्र होनेकी चिन्ता म लग।

रहता है, एक बार स्वतन्त्र होजाने से फिर उसको बन्धनमें डालनेका कोई यत्न भी नहीं करता है।

विराट्की शेषांश मात्राकी न्यूनताके कारण जिस राष्ट्रका शासन कठिन नहीं होता है जिसको अपने वशमें रखनेके लिये व्यय बहुत करना पड़ता है किन्तु लाभ उससे बहुत कम होता है उसको हस्तिक राष्ट्र कहते हैं।

हस्तिक राष्ट्रमें अनुनय और प्रलोभनसे कुछ काम लिया जाता है, उसके सुखका ध्यान रखकर शासन हुआ करता है, ऐसा राष्ट्र कुछ समयके पश्चात् स्वतन्त्रताके रसको भूल जाता है, क्रोधवशात् कभी कभी स्वतन्त्र होनेका यत्न करता है, एक बार स्वतन्त्र होने पर भी उसको फिर अनेक उपायोंसे बन्धनमें डालनेका यत्न किया जाता है।

विराट्की शेषांशमात्राका लोप होजानेके कारण जिस राष्ट्रका शासन सुकर होता है जिसको अपने वशमें रखनेके लिये व्यय और श्रम करना पड़ता है और तदनुसार लाभभी होता है उसको महिषक राष्ट्र कहते हैं।

महिषक राष्ट्रमें प्रलोभन और ताड़नसे बहुत काम लिया जाता है, उसकी आजीविका का ध्यान रख कर शासन हुआ करता है, ऐसा राष्ट्र कभी स्वतन्त्र होनेका यत्न नहीं करता है और न अपने आप बन्धनका आवाहन करता है।

विराट्की शेषांश मात्राके नष्ट होजानेके कारण जिस राष्ट्रका शासन अत्यन्त सुकर होता है जिसको वशमें रखनेके लिये कुछ व्यय और श्रम नहीं करना पड़ता है और जिससे अनायास अनेक प्रकारके लाभ भी होते रहते हैं उसको सुरभिक राष्ट्र कहते हैं।

सुरभिक राष्ट्रसे अनायास सब प्रकारके काम लिए जाते हैं, उसकी बिल कुल उपेक्षा और अवहेलना करके शासन किया जाता है; ऐसा राष्ट्र स्वतन्त्रताको देख कर डरता है और वह अपने आप बन्धनका आवाहन करता है।

चाहे किसी प्रकारका राज्यहो सबके उद्भव स्थिति और प्रलयका मूलकारण एक मात्र विराट् है; जब जातिमें विराट् स्वस्थ होता है तो राज्य भद्ररूपमें होता है, जब विराट् अस्वस्थ होता है तो राज्य भ्रष्टरूपमें होता है, जब विराट् नष्ट होजाता है तो राज्य परकीय रूपमें होता है, जब नष्ट हुए विराट् की शेषांश मात्रा कुछ अधिक होती है तो राज्य गोधुक् रूप में होता है, जब नष्ट हुए विराट की शेषांश मात्रा न्यून होती चली जाती है तो राज्य भी गोधुक् से महिषधुक्में महिष-धुक से विशसितृक में विशसितृक से व्याधक में बदलता जाता है।

अब मीमांसा इस बातकी है कि कौन राज्य सबसे श्रेष्ठ है और कौन सबसे निकृष्ट। साधारणतः व्याधक राज्य सबसे निष्कृष्ट समझा जाता है; किन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि बहुधा यह देखा जाता है कि जिसको प्रवाहके अनुकूल बहे चले जानेका अभ्यास पड़ जाता है वह प्रवाहके प्रतिकूल नहीं तैर सकता है, बराबरकी रगड़से निस्तेज काष्ठमें भी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है किन्तु बिना ठुसी हुई अग्निमें भी भस्म भर जाता है, एवं बिना उत्तेजित किये मनुष्यमें भी तामस भर जाता है; अतः द्वौमुषायण राज्योंमें व्याधक राज्य उतना अनर्थकारी नहीं होता है कि जितना विशसितृक। अतः विशसितृक राज्य सबसे निकृष्ट होता है; और द्वौमुषायणक राज्यकी अपेक्षा दत्रिमक राज्य श्रेष्ठ होते हैं क्योंकिः—

(१) द्वौमुषायणक राज्यका अर्थवैपर्य्य होता है, समस्त शासित जातिसे, किन्तु दत्रिमक राज्यका अर्थवैपर्य्य होता है शासित जातिके कुछ व्यक्तियोंसे।

(२) द्वौमुषायणक राज्यको भरण करना होता है अपनी समस्त जातिका, किन्तु दत्रिमक राज्यको केवल कुछ व्यक्तियोंका।

(३) द्वौमुषायणक राज्यका प्रजासे सदा अर्थवैपर्य्य रहता है किन्तु दत्रिमक राज्यका प्रजासे बहुत कुछ अर्थैक्य हो जाता है;

(४) द्वौमुषायणक राज्यमें प्रजा नष्ट भ्रष्ट हो जाती है, किन्तु दत्रिमक राज्यमें वह शासक जातिमें विलीन हो जाती है;

(५) द्वौमुषायणक राज्यमें शासित जातिको अर्थातिसार होजाता है किन्तु दत्रिमक राज्यमें ऐसा नहीं होता है,

(६) द्वौमुषायणक राज्यमें शासित जातिकी स्वराज्य प्राप्तिकी कोई सम्भावना नहीं रहती है, किन्तु दत्रिमक राज्यमें ऐसी सम्भावना होती है; जैसाकि पहिले दिखलाया जाचुका है।

दत्रिमक राज्योंमें महिषधुक्की अपेक्षा गोधुक् श्रेष्ठ होता है क्योंकि इस राज्यमें राज्य और प्रजाके बीच प्रेम शान्ति और विश्रम्भ महिषधुक्की अपेक्षा अधिक होता है।

अतः पराराज्योंमें विशसितृक सबसे निकृष्ट और गोधुक सबसे श्रेष्ठ होता है।

हमारे आचार्योंके अनुसार सबसे श्रेष्ठ पराराज्यकी अपेक्षा सबसे निकृष्ट स्वराज्य अभीष्ट समझा जाता है क्योंकिः—

(१) परराज्य में शासक जाति और शासित जाति में चितिवैपर्य्य होता है चितिवैपर्य्य से उनमें विराट् वैपर्य्य भी हो जाता है; किन्तु शासक जाति के चिति और विराट् स्वभावतः प्रबल होते है और शासितजाति के चिति और विराट् स्वभावतः क्षीण हुए होते हैं, अतः इन प्रबल चिति और विराट् से शासित जाति के चिति और विराट् आक्रान्त होकर त्वरित गति से नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं; चिति और विराट् के नष्ट भ्रष्ट होने से जातिकी वही दशा होती है जो चैतन्य और प्राण के नष्ट होने से व्यक्ति की होती है; किन्तु स्वराज्य के निकृष्टरूप में भी राज्य और प्रजा के बीच चिति और विराट् वैपर्य्य नहीं होता है।

(२) परराज्य के सब से उत्तम रूप में भी शासित जाति के विराट् के पुनरुदय के अनेक प्रतिकूल कारण उपस्थित हो जाते हैं; अतः शासित जाति का पुनरुदय दिन प्रतिदिन कठिन होता जाता है किन्तु स्वराज्य के सब से निकृष्टरूपमें भी विराट् के पुनरुदय की सम्भावना बनी रहती है; अतः उसके पुनरुदय की भी आशा रहती है ।

(३) स्वजातीय कुराज्य का अर्थ वैपर्य्य होता है अपनी जातिके महत्वाभिलाषी जनों से । किन्तु परजातीय सुराज्य में शासक जाति का अर्थ वैपर्य्य होता है शासित जाति के गुणवान् मनुष्यों से ।

(४) परराज्य में परभाषा पर साहित्य के महत्व और प्रचार के कारण शासित जाति के भाषा और साहित्य दब जाते हैं; किन्तु भाषा और साहित्य के उदयावपात से जाति के उदयापवात का एक प्रकार का समवाय सम्बन्ध होता है; अतः परराज्य में शासित जाति के उदय का एक मुख्य कारण दब जाता है; किन्तु स्वराज्य में चाहे वह किसी रूप में हो ऐसा नहीं होता है ।

(५) परराज्य का शासित जाति से अर्थवैपर्य्य स्वाभाविक होता है, वह बिना दोनों में से एक का नाश हुए जा नहीं सकता है; किन्तु स्वजातीय कुराज्य का अर्थवैपर्य्य होता है कृत्रिम और कृत्रिम उपायों से वह चला भी जाता है ।

(६) परराज्य में शासित जाति में प्रतिभा और दैशिक धर्म का उदय नहीं होने पाता है और जो कदाचित् हुआ भी, तो बहुत दिनों तक उनका स्थिर रहना कठिन हो जाता है, शासित जाति के आशारूप पुरुषरत्न परराज्य की कोपाग्नि में भस्म कर दिए जाते हैं और उनके भस्म से उस जाति के कुलंकष पुरुषाधमों के लिए खाद बनाई जाती है; किन्तु स्वराज्य में चाहे कैसा ही भ्रष्ट हो, जाति में प्रतिभा और दैशिकधर्म के संस्कार बने रहते हैं और उनके थोड़े भी उदय होने से देश की काया पलट जाती है, गई हुई श्रीका पुनरावाहन हो जाता है ।

यह स्पष्ट है कि स्वराज्यमें प्रत्येक उत्तरराज्यकी अपेक्षा पूर्वराज्य श्रेष्ठ होता है। अतः ब्राह्मराज्य सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है. साम्यवादियोंका अर्थात् वर्तमान सोस्यालिष्टोंका अथवा बोल्सविकोंका आदर्श भी यही राज्य है; किन्तु प्रश्न यह है कि इस कालमें ब्राह्मराज्य क्या साध्य हो सकता है? किसी बातकी साध्यता अथवा असाध्यता उसके देशकालनिमित्तोंपर निर्भर होती है। यह प्रत्यक्ष है कि इन दिनों सर्वत्र देशकाल निमित्त आसुरी सम्पद्मय बने हुए हैं, चाहे संसाररूपी रङ्ग में प्रविष्ट हुए यूरपकी कर्मसङ्गकी धधकती हुई ज्वाला लीजाय अथवा उस रङ्गसे निष्क्रान्त हुये एशियाकी तन्द्राका भष्मचय लिया जाय, सर्वथा यही जान पड़ता है कि संसारमें दिन प्रतिदिन दैवीसम्पद्का ह्रास हो रहा है; आसुरीसम्पद् की वृद्धि यहां तक हो चुकी है कि इन दिनों राजा प्रजामें घास लकड़ीके लिये, पिता पुत्रमें दाय भागके लिये, जायापतिमें अन्नवस्त्रके लिये मुकदमेबाजी होने लगी है; एक ओर तो देशकाल निमित्त ऐसे आसुरी सम्पद्मय और दूसरी ओर ब्राह्मराज्यका मूलतत्त्व समष्टिगत दैवीसम्पद्, अतः इन दिनों ब्राह्मराज्य साध्य नहीं हो सकता है, यह राज्य केवल सत्युगमें होता था जब कि धर्मके चारों चरण वर्तमान थे, इन दिनों जब कि धर्मके तीन चरण बिलकुल कट चुके हैं और चौथा चरण भी बहुत कट चुका है तो साम्यवादियोंकी कल्पना कहां तक कार्य्यमें परिणत हो सकेगी इसमें सन्देह है; कल्पना उनकी निस्सन्देह उत्तम है।

अपरञ्च सारी समाजको दैवीसम्पद्मय बनानेकी अपेक्षा कुछ व्यक्तियोंको वैसा बनाना बहुत सुकर और सुसाध्य होता है; यदि कुछ व्यक्तियोंको दैवी-सम्पद्मय बना कर शासन उनके हाथमें दिया जाय और उनकी नीतिका प्रचार किया जाय तो फिर लोगोंको ब्राह्मराज्यकी आवश्यकता नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त असात्विक समयमें प्रतिनिधानपद्धतिसे जो शासन होता है उसमें आसुरी और राक्षसी प्रकृतिके मनुष्योंके आगे आने और दैवीप्रकृतिके मनुष्योंके पीछे पड़नेकी सम्भावना अधिक होती है।

अन्यच्च यदि राज्य एक व्यक्तिके हाथमें हो और भ्रष्ट होनेसे प्रजासे उसका अर्थवैपर्य्य हो जायतो थोड़ा प्रयास करनेसे राज्य सुधर सकता है; यदि राज्य बहुतोंके हाथमें हो और भ्रष्ट होनेसे उनका प्रजासे अर्थवैपर्य्य हो जाय तो बहुत यत्न करनेसे भी राज्यका सुधारना कठिन हो जाता है। इन्हीं बातोंका बिचार करके हमारे दैशिकाचार्य्योंने राज्योंके रूपोंमें परिवर्तन करने की अपेक्षा शासकों की दैवीसम्पद्मय परम्पराको उत्पन्न करना अभीष्ट समझा, जब कभी राजा वेणुके समान कोई कुशासक उत्पन्नहो जाता था तो वे उसका बध तो कर देते थे किन्तु शासनको अपने हाथमें नहीं लेते थे, राजा पृथुके समान शासकको उत्पन्न करके राज्य उसको सौंप देते थे, भगवान् जामदग्न्यने चाहे इकिस बार उपद्रवी राजाओंका बध किया किन्तु राज्यका रूप कभी नहीं बदला। कहनेका तात्पर्य्य

यह है कि इन दिनों ब्राह्मराज्यकी अपेक्षा दैव और मानव राज्य अधिक सुकर और सुसाध्य हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि छोटे देशोंके लिये मानव राज्य और बड़े देशोंके लिये दैवराज्य सर्वोत्तम होता है। जर्मन आचार्य निट्शेके मतानुसार भी मौनार्की (दैव अथवा मानव राज्य) सर्वोत्तम समझा जाता है।

स्वराज्य और परराज्यसे भिन्न एक तीसरे प्रकारका भी राज्य होता है जो प्रधान और आधीन राज्योंके संयोगसे बना होता है, ऐसा राज्य द्वन्द्व राज्य कहा जाता है। द्वन्द्व राज्य तीन प्रकारका होता है:—उत्तम, मध्यम और अधम।

जिस द्वन्द्व राज्यमें प्रधान और आधीन राज्योंमें सख्यभाव होता है, प्रधान राज्य आधीन राज्यसे नियत समयपर केवल कुछ उपायन लिया करता है, इसके अतिरिक्त आधीन राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र होता है उसको उत्तम द्वन्द्व राज्य कहते हैं। इस राज्यमें प्रधान राज्यको साम्राज्य और आधीन राज्यको सामन्त राज्य कहते हैं। साम्राज्यपद प्राप्तिके लिये राजसूयद्वारा अपनेमें भगवान् विष्णुके सदृश गुण दिखलाने पड़ते थे।

जिस द्वन्द्व राज्यमें प्रधान और आधीन राज्योंमें सेव्यसेवक भाव होता है, प्रधान राज्य आधीन राज्यके कामोंमें हस्ताक्षेप करता है और उसको अपनी इच्छानुसार चलाया करता है उसको मध्यम द्वन्द्व राज्य कहते हैं। इस राज्यके प्रधान राज्यको अधिराज्य और आधीन राज्यको अनुराज्य कहते हैं। अधिराज्यपद प्राप्तिके लिये राजसभा द्वारा अपना उत्कर्ष दिखाना पड़ता था।

जिस द्वन्द्व राज्यमें प्रधान और आधीन राज्योंमें भोक्तृ भोग्य भाव होता है, प्रधान राज्यके हाथमें ही सब अधिकार होते हैं, आधीन राज्यको नाम मात्रके कुछ अधिकार दिये रहते हैं उसको अधम द्वन्द्व राज्य कहते हैं। इस राज्यमें प्रधान राज्यको प्रराज्य और आधीन राज्यको उपराज्य कहते हैं। प्रराज्य प्राप्तिके लिये राज्याभिषेक द्वारा अपनी शक्ति दिखानी पड़ती थी।

द्वन्द्व राज्योंके भी मुख्य हेतु दैवीसम्पद् और विराट्‌ही हैं। जब प्रधान राज्यमें दैवी सम्पद्‌का और आधीन राज्यमें विराट् का शेषांश अधिक होता है तो द्वन्द्व राज्य उत्तम रूपमें होता है। जब प्रधान राज्यमें दैवीसम्पद्‌की और आधीन राज्यमें विराट् के शेषांशकी न्यूनता होती है तो द्वन्द्वराज्य मध्यम रूपमें होता है। जब प्रधान राज्यमें आसुरी सम्पद्‌का आधिक्य और आधीन राज्यमें विराट् के अवशेष का सर्वनाश हुआ रहता है तो द्वन्द्वराज्य अधम रूपमें होता है।

द्वन्दराज्य बहुधा दो स्वराज्योंके संयोगसे, अथवा एक परराज्य और एक स्वराज्यके संयोगसे, अथवा दो परराज्योंके संयोगसे बनते हैं, जिनमें एक प्रधान और दूसरा आधीन राज्य होता है, किन्तु कभी कभी प्रधान राज्य अनेक भी हो जाया करते हैं, जिस द्वन्द राज्यमें प्रधान राज्य अनेक होते हैं उसको सन्निपात राज्य कहते हैं, सन्निपात राज्य चिरस्थायी नहीं होता है।

हमारे दैशिकशास्त्रके अनुसार राज्योंका वर्णन हो चुका है। तुलनाके लिये कुछ पाश्चात्योंके अनुसार भी राज्योंका वर्णन होना अच्छा था, किन्तु अनेक कारणोंसे, यह हो नहीं सकता है, इतना कहा जा सकता है कि पाश्चात्य दैशिक-शास्त्रका मूलाधार हैं अरिष्टोटलका पैलिटिक्स। इसके अनुसार राज्य छः प्रकारके होते हैं:—

(१) मौनार्की (२) अरिष्टोक्रसी (३) स्टेट (४) टिरैनी (५) औलिगार्की (६) डिमोक्रसी।

जिस राज्यमें सार्वजनिक हितके लिये एक व्यक्ति शासन करता है वह मौनार्की कहा जाता है।

जिस राज्यमें अनेक किन्तु अल्प संख्यक सुयोग्य सज्जन शासन करते हैं वह अरिष्टोक्रसी कहा जाता है।

जिस राज्यमें सार्वजनिक हितके लिये प्रायः समस्त प्रजा शासन करती है वह स्टेट कहा जाता है।

जिस राज्यमें शासकका हित मुख्य समझा जाता है वह टिरैनी कहा जाता है।

जिस राज्यमें धनवानोंका हित मुख्य समझा जाता है वह औलिगार्की कहा जाता है।

जिस राज्यमें निर्धनोंका हित मुख्य समझा जाता है वह डिमोक्रसी कहा जाता है।

इन राज्योंमें उत्तर तीन राज्य पूर्व तीन राज्योंके भ्रष्ट रूप होते हैं। इन छः प्रकारके राज्योंमें जो भेद है उसका मुख्य कारण है अधिकार भेद। जब अधिकार प्रजाके प्रतिनिधि रूप वंशपरम्परागत एक मनुष्यके हाथमें होता है तो राज्य

मौनार्की रूपमें होता है। जब अधिकार प्रजाके प्रतिनिधि रूप वंशपरम्परागत अल्पसंख्यक अनेक मनुष्योंके हाथमें होता है तो राज्य अरिष्टोक्रसी रूपमें होता है। जब अधिकार स्वयं प्रजाके हाथमें होता है तो राज्य स्टेट रूपमें होता है। जब अधिकार वंशपरम्परागत एक स्वेच्छाचारी मनुष्यके हाथमें होता है तो राज्य टिरैंनी रूपमें होता है। जब अधिकार धनवानोंके प्रतिनिधियोंके हाथमें होता है तो राज्य ऑलिगार्की कहा जाता है। जब अधिकार गरीबोंके प्रतिनिधियोंके हाथमें होता है तो राज्य डिमोक्रसी रूपमें होता है।

उक्त छः राज्योंके अतिरिक्त प्राचीन यूनानमें एक और राज्य होता था जो यजक्टेट कहा जाता था यजक्टेट राज्यमें एक व्यक्ति किसी विशेष काम और नियत समयके लिये पूर्ण अधिकार देकर शासन करनेके लिये चुन लिया जाता था और जब वह विशेष काम हो चुकता था और वह नियत समय बीत जाता था तो उस व्यक्तिके शासनका अन्त हो जाता था।

स्टेट राज्यमें राष्ट्र जब बड़ा होता है तो प्रतिनिधान पद्धतिको काममें लाए बिना राज्य ठीक हो नहीं सकता है, सब मनुष्योंके हाथमें शासन हो नहीं सकता है; अतः प्रतिनिधियोंके हाथमें शासन देना पड़ता है, राष्ट्र बड़ा होनेसे जब शासन प्रतिनिधियोंके हाथमें होता है तो राज्य रिपब्लिक कहा जाता है।

अरिष्टोक्रसी, औलिगार्की, डिमोक्रसी और रिपब्लिकमें भेद केवल इतना होता है कि अरिष्टोक्रसीमें प्रतिनिधि जन्मभरके लिये होते हैं; औलिगार्कीमें प्रतिनिधि नियत समयके लिये होते हैं; अपरंच वे धनवानोंके ही प्रतिनिधि होते हैं। डिमोक्रसीमें भी वे नियत समयके लिये होते हैं किन्तु वे प्रतिनिधि निर्धनोंके ही होते हैं, रिपब्लिकमें वे नियत समयके लिये होते हैं और प्रतिनिधि वे सबके होते हैं।

अब उक्त सब राज्योंका लोप हो गया है, पाश्चात्य दैशिक शास्त्रके अनुसार अब संसारमें केवल चार प्रकारके स्वराज्य और तीन प्रकारके पराज्य रह गये हैं। स्वराज्य जो इन दिनों पाए जाते हैं वे ये हैं:—राजतन्त्र, परिमित राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, संयुक्त राज्य।

जिस राज्यमें सब अधिकार वंशपरम्परागत् एक व्यक्ति अर्थात् राजाके हाथमें होते हैं वह राजतन्त्र कहा जाता है।

जिस राज्यमें कुछ अधिकार प्रजाके हाथमें और कुछ अधिकार प्रजा प्रतिनिधि मण्डलीके हाथमें होते हैं और जब कोई महत्त्वका विषय उपस्थित होता

है तो राजा और प्रजा प्रतिनिधि मण्डली एक दूसरे की सम्मति लिया करते हैं तो राज्य परिमित राजतन्त्र कहा जाता है ।

जिस राज्यमें सब अधिकार प्रजाप्रतिनिधिमण्डलीके हाथमें होते हैं वह प्रजातन्त्र राज्य कहा जाता है।

जिस राज्यमें कुछ अधिकार अपने अपने हितके लिये मिले हुए राज्योंके अपने अपने हाथमें होते हैं और कुछ विशेष अधिकार सबके हितके लिए एक बड़े राज्यके हाथमें होते हैं वह संयुक्त राज्य कहा जाता है।

ये सब राज्य अरिष्टोटलके राज्योंकी लौट फेरसे ही बने हुए हैं। यथा राजतन्त्र राज्य कहीं मौनार्की रूपमें होता है और कहीं टिरैनी रूपमें; परिमित राजतन्त्रमें राजा मौनार्क अथवा टाइरैण्टका अंश होता है, और प्रतिनिधि मण्डली कहीं अरिष्टोक्रसी का अंश, कहीं औलिगार्की का अंश और कहीं डिमाक्रसीका अंश होती है; अरिष्टोक्रसी अथवा औलिगार्कीका अंश सर्दार मण्डलीमें होता है, स्टेट अथवा डिमोक्रसीका अंश प्रजाप्रतिनिधि मण्डलीमें होता है, प्रजातन्त्र राज्य में कुछ अंश डिमोक्रसीका और कुछ औलिगार्कीका होता है।

इन दिनों यूरपमें एक और राज्यकी चर्चा हो रही है जो बौल्सविक राज्यके नामसे कहा जा रहा है; यह राज्य प्रायः रिपब्लिक राज्यके समानही होता है रिपब्लिकमें और इसमें भेद केवल इतना ही है कि रिपब्लिकमें राज्याधिकारियोंके चुनावमें सम्मतियां केवल अर्थशालियोंकी ली जाती हैं और राज्याधिकारियोंका गौरव और वेतन भी विशेष होता है; किन्तु बौल्सविक राज्यमें राज्याधिकारियोंके चुनावमें सम्मतियां सब लोगोंकी ली जाती हैं, और गौरव और वेतनमें राज्याधिकारी और साधारण किसान अथवा मजदूरमें कुछ भेद नहीं समझा जाता है। बौल्सविक राज्य इन दिनों रूस और हङ्गरीमें स्थापित किया जा रहा है, लिनन और बेलाकुन नामक व्यक्ति इसके नेता बने हुए हैं; बौल्सविकोंके मतानुसार वर्तमान रिपब्लिक राज्य मृदुकोटिकी औलिगार्की समझे जाते हैं।

इन दिनों पाश्चात्य दैशिक शास्त्रानुसार परराज्य तीन प्रकारके होते हैं:—(१) कलोनियल (२) प्रोटेक्टरेट (३) डोमिनेण्ट।

जब किसी परराष्ट्रमें शासित जाति नष्ट प्राय हो जाती है, शासक जातिके कुछ लोग उस राष्ट्रमें बस जाते हैं और उन वहां बसे हुए शासक जातिके लोगोंके हाथमें कुछ राज्याधिकार होते हैं और कुछ विशेष राज्याधिकार शासक जातिके अपने देशस्थ राज्यके हाथमें होते हैं तो राज्य कलोनिकल कहा जाता है। यथा कनाडाका वर्तमान राज्य।

जब परराष्ट्रमें कुछ राज्याधिकार शासित जातिके राज्यके हाथमें होते हैं और कुछ विशेष राज्याधिकार शासक जातिके राज्यके हाथमें होते हैं तो राज्य प्रोटक्टरेट कहा जाता है। यथा मरोकोमे फ्रान्सका राज्य।

जब परराष्ट्रमें सम्पूर्ण अधिकार शासक जातिके हाथमें होते हैं तो राज्य डोमिनेराट कहा जाता है। यथा भारतमें इङ्गलिस्तानका राज्य।

इस जर्मन युद्धसे एक नवीन प्रकारके मेंराडेट नामक परराज्यका नाम सुनाई दे रहा है। मेंराडेट एक प्रकारका पञ्चायती राज्य होता है जिसमें अनेक राज्य मिलकर किसी परराष्ट्रका शासन करते हैं किन्तु शासनका विशेष प्रबन्ध उन मिले हुए राज्योंमें से एक ही के हाथमें होता है।

इन दिनोंके पर राज्योंमें शासन प्रतिनिधिद्वारा हुआ करता है; प्रतिनिधिका कर्तव्य होता है अपनी टीका टिप्पणीसहित उस आधीन परराष्ट्रकी वाह्याऽभ्यन्तरिक अवस्थाकी सूचना अपने होम गवर्नमेण्टको देना, होम गवर्नमेण्ट इसी सूचना पर परराष्ट्र शासन विषयक नीतिका सूत्रपात करती है, जिस सूत्रको वह प्रतिनिधि विस्तृत करके कार्य्यमें परिणत करता है। कानून बनानेवाली सभाद्वारा उस सूत्रका विस्तार किया जाता है, न्यायालयों द्वारा उसका प्रचार किया जाता है और सेनाद्वारा उसका प्रभाव अखराड रखा जाता है। कानून अदालत और फौज इन दिनोंके पर राज्योंके आधार होते हैं।

इन दिनों हवा कुछ ऐसी चली हुई है कि संसारमें सब देश अपने अपने राज्योंसे असन्तुष्ट हैं। डोमिनेराट राज्यमें शासित जातिके लोग शासक जातिके लोगोंसे मिलकर एक नवीन प्रजातन्त्र राज्य चाहने लगे हैं। प्रोटक्टरेट राज्यमें शासित जातिके लोग शासक जातिके हस्ताक्षेपको अलग करके अपना स्वाधीन प्रजातन्त्र राज्य स्थापित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। कलोनियल राज्य अपने मूल-राज्यसे सम्बन्ध विच्छेद करके स्वाधीन होना चाह रहे हैं। राजतन्त्र राज्योंका पतन सावन भादोंके हिमचयोंके समान धड़ाधड़ हो रहा है। परिमित राजतन्त्र राज्योंमें राजाओंके अधिकारोंका अस्ताचलचूड़ावलम्बी भगवान् मरीचि-मालीकी हिमाद्रिशिखर गत अन्तिम लालिमाके समान सरासर सङ्कोच होकर प्रजातन्त्र राज्यके अंकुर दिखाई देने लगे हैं। प्रजातन्त्र राज्यमें अध्यक्ष अथवा राज्याधिकारियोंका क्षणिक ऐश्वर्य लोगोंको अखरने लगा है। इतना ही नहीं वरन् सर्वत्र साहूकार और मजदूर आपसमें आषाढ़के ऐरावत मेघोंके समान टकराने लगे हैं, सर्वत्र बोलसविज़म अर्थात् साम्यवादके संस्कार दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

साम्यभाव निस्सन्देह बहुत अच्छी बात है, किन्तु केवल तभी कि जब सर्वत्र

बराबर सुख शान्ति, सर्वत्र परस्पर प्रेम और सहानुभूति हों; न कि तब जब कि सर्वत्र बराबर दुःख अशान्ति, सर्वत्र परस्पर द्वेष और असूया हों। पहिले प्रकारका साम्य ब्राह्मसाम्य और दूसरे प्रकारका साम्य पाशव साम्य कहा जाता है। हमारे आचार्योंके मतानुसार जब तक समाजमें अर्थ परायणता और आसुरी सम्पद् रहते हैं और जब तक उसमें दैवीसम्पद् समष्टिगत नहीं होती है तब तक ब्राह्म साम्य असम्भव होता है। अतः उन्होंने राज्यरूप की अपेक्षा राज्यतत्त्वको महत्त्व दिया; किन्तु पाश्चात्योंने राज्यतत्वकी अपेक्षा राज्यरूपको महत्त्व दिया है। हमारे और पाश्चात्योंके दैशिकशास्त्रोंमें यह बड़ा भेद है।

इति दैशिक शास्त्रे विराडाध्याये राज्यविभागोनाम
प्रथमाह्निकः

द्वितीय आह्निक

वर्णाश्रम विभाग

पहिले आह्निकमें यह दर्शाया गया कि प्रत्येक राज्य समाजकी विराट् की अवस्था का रूपान्तर मात्र होता है, अर्थात् समाजमें जैसी विराट्की अवस्था होती है वैसा उसमें राज्य होता है। विराट्की उत्तमावस्थामें उत्तम राज्य, मध्यमावस्था में मध्यम राज्य और अधमावस्था में अधम राज्य होता है। अतः इस आह्निकमें मीमांसा इस बातकी है कि विराट्की उत्तमावस्था बनाए रखनेके लिए समाज कैसी होनी चाहिए

हमारे आचार्योंके मतानुसार उक्त बातके लिए समाजमें धर्म समष्टिगत होना चाहिए। किन्तु धर्म है क्या?

दैशिकशास्त्रानुसार मनुष्य के परस्पर प्रत्यर्थी सहज गुणों की साम्यावस्था की धारणा अर्थात् मनुष्य में स्वभावसे अथवा सन्निकर्षों के कारण जो अनेक प्रतिद्वन्द्वी गुण हो जाते हैं उनका साम्य बनाए रखना धर्म कहा जाता है। **धर्म की परिभाषाको समझनेके लिए यह स्मरण रखना चाहिए किः—**

(१) भगवती प्रकृतिने मनुष्योंको एक ओर तो सामाजिक जीव बनाया है

जिससे उनमें साम्यकी अतीव आवश्यकता होती है; और दूसरी ओर उनको अहंकारकी मात्रा इतनी अधिक देदी है कि वे अपने अत्यल्प लाभके लिए एक दूसरे की महा हानि करनेको सन्नद्ध रहते हैं।

(२) एक ओर मनुष्योंकी आधिजीविकप्रवृत्ति मनुष्यसमाजको बहुत बढ़ने देना नहीं चाहती है और दूसरी ओर उनकी आधिचित्तिकप्रवृति सहानुभूति रूपसे उसकी वृद्धि करना चाहती है।

(३) एक ओर विवेक मनुष्यको महत्त्वके सोपानमें रखना चाहता है और दूसरी ओर तृष्णा उसको नीचताके खड्डेमें ढकेल रही है।

(४) एक ओर बुद्धि मनुष्यको आन्तरिक सुखकी ओर खींच रही है और दुसरी ओर इन्द्रियां उसको बाह्य सुखकी ओर लेजा रहे हैं।

(५) एक ओर चितिशक्ति मनुष्यको दैवत्वकी ओर लेजा रही है और दुसरी ओर विषय वासना उसको पशुत्वकी ओर खींच रही है।

(६) एक ओर मनुष्य त्रिगुणातीत पुरुषकी ओर जाना चाहता है और दुसरी ओर त्रिगुणात्मक प्रकृति उसको अपनी ओर खींचती है।

(७) दीर्घ कालीन प्रति द्वन्द्वी सन्निकर्षोंके कारण मनुष्यस्वभावमें ऐसे और भी अनेक वैपर्य्य उत्पन्न हो जाते हैं।

मनुष्यके उक्त प्रत्यर्थी गुणोंमें एकके न्यून और दुसरेके अधिक होनेसे उसकी अवस्था अप्राकृतिक हो जाती है। मनुष्यकी प्राकृतिक अवस्था बनाए रखनेके लिए उक्त प्रत्यर्थी गुणोंकी साम्यावस्थाकी धारणाकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। दैशिकशास्त्रानुसार यही धारणा धर्म कही जाती है।

उक्त प्रत्यर्थी गुणोंका वैषम्य जब समष्टिगत होता है तो समाजमें लोगोंमें अर्थ वैपर्य्य हो जाता है, अथवा वह निस्सहाय होकर परभोग्यहो जाती है, अथवा उसमें ऐसा रागद्वेष भर जाता है कि जिसके कारण उसमें सुख शान्ति सन्तोष दुर्लभ हो जाते है। अतः धर्मको समष्टिगत करना अर्थात् समाजमें उक्त प्रत्यर्थी गुणोंकी साम्यावस्था बनाए रखना दैशिकशास्त्रकी परा निष्पत्ति समझी जाती है।

दैशिकशास्त्रकी इस परा निष्पत्तिके लिए समाजमें श्रेष्ठ बुद्धिका, उत्कट पौरुषका, पर्याप्त अर्थका, यथेष्ठ अवकाशका संयोग होना चाहिए; समाजमें इन चार बातोंमें से एकके भी कम होने अथवा उनके साधारण कोटिके होनेसे उक्त प्रत्यर्थी गुणोंकी

साम्यावस्थाकी धारणा नहीं हो सकती है । श्रेष्ठ बुद्धिका, उत्कट पौरुषका, पर्य्याप्त अर्थका यथेष्ठ अवकाशका संयोग करनेके लिए समाजमें पर्य्याप्त संख्यक चार प्रकारके प्रवीण मनुष्य होने चाहिएं; एक वे जो समाजमें श्रेष्ठ बुद्धिको बनाए रखें, दूसरे वे जो समाजमें उत्कट पौरुषका योगक्षेम किया करें, तीसरे वे जो समाजमें अर्थका पर्य्याप्त उपार्जन और वितरण किया करें, चौथेवे जो समाजको बड़ी बड़ी बातोंके विचारने और करनेके लिए यथेष्ठ अवकाश दिया करें। किन्तु ऐसे प्रवीण मनुष्य बिना अप्रतिकूल दायसंस्कारोंके बिना आजन्म अनुकूल सन्निकर्षोंमें अनुकूल शिक्षा पाए और बिना अनुकूल आधार और प्रेरणाके उत्पन्न नहीं होसकते हैं । किसी समाजमें ऐसे प्रवीणोंकी पर्य्याप्त संख्या होना और भी कठिन होता है। इसी कठिनताके कारण आचार्य प्लेटो और उनके सुयोग्य शिष्यको अपने दैशिक सिद्धान्त असाध्य जान पड़े; किन्तु हमारे आचार्योंने इस कठिनताको वर्णाश्रम धर्मसे सुलझाकर उक्त परा निष्पत्तिको अत्यन्त सरल और सुकर कर दिया था। इस धर्मके अनुसार गुणकर्मविभागानुसार हमारी समाजके चार विभाग किए गए, एक एक विभागको एक एक काम दिया गया; किसीको बुद्धि सम्बन्धी, किसीको पौरुष सम्बन्धी, किसीको अर्थ सम्बन्धी और किसीको अवकाश सम्बन्धी, प्रत्येक विभागको अपने काममें प्रवीण बनानेके लिए आधिजननिक और आध्यापनिक शास्त्र काममें लाए गए। ये चार विभाग चार वर्णके नामसे कहे गये।

विद्याद्वारा समाजमें श्रेष्ठ बुद्धिका योगक्षेम और समाजकी स्वाभाविक स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेवाला वर्ण ब्राह्मण वर्ण कहा गया।

बल वीर्य्य द्वारा समाजमें पौरुष बनाए रखनेवाला और समाजकी शासनिक स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेवाला वर्ण क्षत्रिय वर्ण कहा गया।

अर्थद्वारा समाजमें श्रीसमृद्धिको बनाए रखनेवाला और समाजकी आर्थिक स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेवाला वर्ण वैश्य वर्ण कहा गया।

शारीरिक श्रम और सेवाद्वारा समाजको यथेष्ठ अवकाश देनेवाला और समाज की आवकाशिक स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेवाला वर्ण शूद्र वर्ण कहा गया।

जिन गुणकर्मोंके अनुसार म्लेच्छ आदि जातियोंसे आर्य्य जाति अलग समझी गई, जिनके अनुसार आर्य्य जातिमें वर्ण विभाग किया गया वे स्वातन्त्र्य प्रेम और स्वातन्त्र्य दान हैं। अर्थात् अनार्य्यों की अपेक्षा आर्य्योंमें अधिक और वास्तविक स्वातन्त्र्य प्रेम और स्वातन्त्र्य दान होता है; और शूद्रोंकी अपेक्षा वैश्योंमें, वैश्योंकी अपेक्षा क्षत्रियोंमें, क्षत्रियोंकी अपेक्षा ब्राह्मणोंमें अधिक और वास्तविक स्वतन्त्रता प्रेम और स्वतन्त्रता दान होता है।

विषय भोगोंके लिए स्वतन्त्रताको प्राप्त करना म्लेच्छगुण और दूसरों की स्वतन्त्रता का हरण करना म्लेच्छ कर्म कहा जाता है।

स्वतन्त्रताके लिए विषय भोगोंको त्यागना आर्यगुण और दूसरोंकी परतन्त्रता का हरण करना आर्य्य कर्म कहा जाता है।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रताके प्रेमी होते थे, जो पीढ़ियोंसे मानवी स्वतन्त्रताका भोग करते चले आते थे, जो प्रकृतिके बन्धनोंसे भी मुक्त होनेके उपायमें लगे रहते थे, जो निष्काम सबको स्वतन्त्र बनानेका उद्योग करते थे वे ब्राह्मण कहे जाते थे।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रताके प्रेमी होते थे, जिन्हें मानवी स्वतन्त्रताका अनुभव रहता था, जिनकी प्रवृत्ति पूर्ण स्वतन्त्रताकी ओर झुई रहती थी, जो स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए अपने प्राणोंको हथेलीमें लिए रहते थे, जो निष्काम सबकी स्वतन्त्रत की रक्षा किया करते थे वे क्षत्रिय कहे जाते थे।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रताके प्रेमी होते थे, जिन्हें मानवी स्वतन्त्रताका कुछ कुछ अनुभव रहता था, जो पूर्ण स्वतन्त्रताको अच्छा समझते थे, जो स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए अर्थ त्याग किया करते थे, जो निष्काम सबकी आर्थिक स्वतन्त्रताकी रक्षा किया करते थे वे वैश्य कहे जाते थे।

स्वभावतः जो स्वतन्त्रताके प्रेमी होते थे, जिन्हें मानवी स्वतन्त्रताका कम अनुभव रहता था, जिनके समझमें पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं आती थी, जो स्वतन्त्रताके लिए कुछ त्याग नहीं करते थे जो फलेच्छासे सबकी आवकाशिक स्वतन्त्रताको बनाए रखते थे वे शूद्र कहे जाते थे।

जब तक प्रत्येक वर्ण अपने अपने धर्मका ठीक ठीक पालन न करे तब तक वर्ण विभागका होना न होना बराबर होता है, वर्ण धर्मका पालन करनेके लिए त्याग और समाजिक विभूति के संयमकी आवश्यकता होती है।

बिना त्यागके कोई अपना वर्णधर्म पालन नहीं कर सकता है; यह भली भांति समझमें आसकता है कि जिस वर्णके हाथमें अपनी जातिके बुद्धि विवेकका योगक्षेम हो उसके बुद्धिविवेक स्वयं अति निर्मल होने चाहिएं, किन्तु बिना विषय त्यागके किसीकी बुद्धि निर्मल हो नहीं सकती है; अतः ब्राह्मणों के लिए विषय त्याग आवश्यक समझा गया। जिस वर्णके हाथमें अपनी जाति की रक्षा हो उसको बिना किसी ऐहिक आशाके अपने प्राणोंको सदा संशयमें रखे

रहना पड़ता है । जिस वर्णके हाथमें अपनी जातिका पालन पोषणहो उसको मातके समान निरपेक्ष और निरभिमान होना पड़ता है। जिस वर्णके हाथमें जातिकी सेवाहो उसको धरित्रीके समान निरीह और सहिष्णु होना पड़ता है। चारो वर्णोंको समाजके लिये बराबर त्याग करना पड़ता है; किसी एक वर्णके त्यागसे मुख मोड़ने पर समाजमें वैषम्य उत्पन्न हो जाता है, त्यागही दैशिक धर्मका मुख्य आधार है, इसी त्यागके प्रतापसे हमारे पूर्वजोंने ऐसी सुन्दर समाज रचना कीईथी कि जिसके लिए यवनाचार्य्य प्लेटो और अरिष्टोटल लार टपकाते रह गए।

किन्तु त्याग कहनेमें जितना सरल है करनेमें उतनाही कठिन है; किसी समाजमें दस बीस व्यक्ति त्यागीहो सकते हैं किन्तु समस्त समाजका त्यागी होना कुछ साधारण बात नहीं है, ऐसा समष्टिगत त्याग बिना किसी आधारके सम्भव नही हो सकता है अर्थात् त्यागके जाति गत होनेके लिए कोई ऐसा निमित्त अवश्यमेव होना चाहिए कि जिससे त्यागकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति स्वतः हो जाय; बिना आधारके त्यागहो नही सकता है; उदाहरणार्थ भारतमें इन दिनों अनेक ऐसे योगी देखनेमें आते है कि जो अपने दोनों हाथोंको सदा ऊपरको उठा कर सुखा देते है, यदि उन्ही योगियोंसे अपने हाथका एक नखको काटकार फेंक देनेको कहा जाय तो वे लड़नेको तय्यार हो जाते हैं; अब प्रश्न यह है कि जो अपने दोनों हाथोंको त्याग सकता है वह क्यों कर एक नखको नहीं त्याग सकता है? उत्तर इसका यह है कि पूर्व पक्षमें आमुष्मिक सुखकी आशाका आधार रहता है जिससे दोनों हाथोंका त्यागहो सकता है, किन्तु उत्तर पक्षमें किसी प्रकारका आधार न होनेसे एक नखका भी त्याग नहीं हो सकता है। इसी प्रकार दैशिक विषयमें भी प्रत्येक वर्णके त्यागके लिए कुछ आधार अवश्यमेव होना चाहिए, किन्तु यह आधार वाग्विलासिक नही होना चाहिए यह होना चाहिए आधिजीविक और आधिचित्तिक । हमारे आचार्य्योंके अनुसार यह आधा तीन प्रकारका होता हैः—(१) नैमित्तिक (२) नैष्कृत्तिक (३) सांस्कारिक।

नैमित्तिक आधारः—आब्रह्मस्तम्भ पर्य्यन्त सब जीव दिन रात आनन्दकी खोजमे लगे रहते हैं, समस्त जीव अधिक सुखके लिए अल्प सुखको त्याग देते हैं; जहां अधिक सुख और अल्प सुखमें वैपर्य्य होता है सब अल्प सुखको त्याग देनेके लिए उतावले हो जाते हैं; इस सिद्धान्तके अनुसार ध्यानयोगद्वारा प्रत्येक वर्णको यह निश्चय करा दिया जाता था कि विषयसुखकी अपेक्षा आध्यात्मिक सुख अति श्रेष्ट है, इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर त्याग सुकर हो जाता था । इस प्रकारके निश्चयसे उत्पन्न हुवा त्यागका आधार नैमित्तिक आधार कहा जाता है। यह बात प्रत्यक्ष है कि मनुष्यको ध्यानयोगका जितना जितना रसास्वादन होता जाता है

उतनी उतनी त्यागमें उस कि निष्ठा होती जाती है; अतः प्राचीन समयमें प्रत्येक मनुष्यको ध्यानयोगका अभ्यास करवाया जाता था और प्रतिदिन कमसे कम दो बार यह अभ्यास करना पड़ता था, कालक्रमनसे बिगड़ते बिगड़ते उस ध्यानयोगने वर्तमान सन्ध्योपासनका रूप धारण किया है, जिसका थोड़ा बहुत स्वाङ्ग अब भी हमारे देशमें सर्वत्र होता ही रहता है; किन्तु इस स्वाङ्गका भी दिन दिन ह्रास होता चला जा रहा है।

नैष्कृत्तिक आधारः—जब कोई किसीके लिए किसी प्रकारका त्याग करता है तो वह उसके बदलेमें कुछ मिलनेकी आशा करता है, बिना बदला पानेकी आशाके

ऐहिक दृष्टिके त्यागमें किसीकी बहुत दिनो तक स्थिति नहीं होसकती है; अतः जब किसीसे किसी प्रकारका त्याग करवाया जाता है तो उसको कुछ निष्कृत्ति अवश्यमेव मिलनी चाहिए; इस प्रकारकी निष्कृत्तिसे उत्पन्न हुआ त्यागका आधार नैष्कृत्तिक आधार कहा जाता है। आधिचित्तिक शास्त्रानुसार भिन्न भिन्न मानसिक प्रवृत्तिके मनुष्योंको भिन्न भिन्न प्रकारकी निष्कृत्ति दी जानी चाहिए; ब्राह्मणोंको गौरवकी, क्षत्रियको ऐश्वर्य्यकी, वैश्यको श्रीकी, शूद्रको नैश्चिन्त्यकी। इस नैष्कृत्तिक आधारके संस्कार हमारी समाजमें अब तक वर्तमान हैं; अब तक ब्राह्मणोंका ऐसा गौरव है कि वे भूदेव कहे जाते हैं, अब भी हमारे बड़े बड़े राजा महाराजा उनके चरणोंमें शिर नवाते हैं, बड़े बढ़े सेठ साहूकार उनकी चरणोकी धूली लिया करते हैं, किसी आर्य्यसन्तानकी यथार्थ ब्राह्मणका अपमान करनेका साहस नहीं होसकता है; जिसने स्वतन्त्रताको अपनी इष्ट देवता समझ लिया हो, जिसने जातिके हितार्थ अपने ऐहिक सुखोको त्याग दिया हो इसके लिए ऐसा गौरव अनुरूप निष्कृत्ति है। प्राचीन संस्कारोंके रह जानेसे हमारे अधिकांश नृपासनोंमें अब भी क्षत्रिय विराजमान हैं; हमारे अनेक राज्योंमें जहां प्राचीन प्रथा चली जाती है ऐश्वर्य्यके अधिकारी अब तक क्षत्रिय समझे जाते है, जिसने अपनी जातिकी रक्षाके लिए अपने प्राणोंकी बाजी लगाई हो ऐश्वर्य्यके अतिरिक्त और किस पदार्थमें उसको निष्कृत्ति दी जा सकती है? भारतके समस्त हिन्दू राज्योंमें अनेक मुसलमान रियासतोंमें, कहीं कहीं अंग्रेजी राज्यमें भी धनाढय शिरोमणि अब तक वैश्यही हैं, श्री के प्रमोद काननमें विहार करनेका उन्हीका अधिकार समझा जाता है; अपनी जातिका पालन पोषण करनेवालोंके लिए यही स्वाभाविक निष्कृत्ति है। हमारे धर्म शास्त्रानुसार स्वामीका मुख्य धर्म है सेवक को सर्वथा निश्चिन्त रखना, प्राचीन ढङ्गके हिन्दू घरानोंमें सेवक अब भी ऐसेही निश्चिन्त रखे जाते हैं; जिसने जातिके हितार्थ सेवा धर्म स्वीकार कियाहो उसके लिए नैश्चिन्त्य अनुरूप निष्कृत्ति है जिसके लिए मनुष्य मात्र उत्सुक रहा करते हैं।

सांस्कारिक आधारः—बिना पूर्वाभ्यासके त्यागका निर्वाह होना अत्यन्त कठिन होता है, परीक्षाके लिए यथा तथा किए हुए त्यागसे अनिष्ट होता है न कि श्रेय; अतः त्याग रूप वृक्षको स्थिर और फलीभूत करनेके लिए यथा समय विधिपूर्वक अभ्यासद्वारा चित्तमें त्यागके संस्कारोंको गढ़ देना पड़ता है; इस प्रकारका त्यागका आधार सांस्कारिक आधार कहा जाता है। यह आधार दिया जाता था ब्रह्मचर्य्यसे, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे पूर्व प्रत्येक मनुष्यको त्यागका ऐसा अभ्यास करा दिया जाता था कि त्याग उसमें आत्मसात् हो जाता था। उपनयनके दिन इस विधि की छाया अब तक देखी जाती है।

उक्त तीन प्रकारके आधारोंका संयोग होनेसे त्यागमें पूर्ण निष्ठा हो जाती थी जिससे वर्ण धर्मका पालन करनेमें कुछ कठिनाई नहीं रहती थी।

मान ऐश्वर्य्य विलास और नैश्चिन्त्य सामाजिक विभूतियां कही जाती हैं, ऐहिक दृष्टिसे मनुष्यके लिए इनसे और कोई वस्तु अभीष्ट नहीं होती है, इनके लिए वह जन्मभर उद्योग करता रहता है और इनके लिए वह सब कुछ करनेको सन्नद्ध रहता हैं, कोई मानको श्रेष्ठ समझते हैं, कोई ऐश्यर्य्यको, कोई विलासको, कोई नैश्चिन्त्यको; किन्तु किसी एक विभूति की अपेक्षा अनेकोंको सभी श्रेष्ठ समझते हैं; अतः जिस कर्म करनेसे अनेक विभूतियां प्राप्त होती हैं सभी उसको करने लगते हैं और कम विभूतियां देनेवाले कर्मको सभी छोड़ देते हैं, अतः वर्ण धर्मका पालन करानेके लिए सामाजिक विभूतियोंके संयमकी आवश्यकता होती है। सामाजिकविभूतिसंयम कहते हैं इन विभूतियोंका ऐसा विभाग और प्रयोग किया जाना कि जिससे प्रत्येक वर्ण अपने अपने धर्मका पालन करता जाय और कोई वर्ण अपने धर्मको त्याग कर दूसरे वर्णके धर्ममें हस्ताक्षेप करने न पावै। इसकी रीति यह थीः—

(१) एक वर्णको केवल एकही विभूति दी जाती थी; ब्राह्मणोंको केवल मान, क्षत्रियको केवल ऐश्वर्य्य, वैश्यको केवल विलास और शूद्रको केवल नैश्चिन्त्य दिया जाता था। अपरंच जैसा मान ब्राह्मणका होता था, वैसा और किसीका नहीं होता था, जैसा ऐश्यर्य्य क्षत्रियको मिलता था वैसा और किसीको नहीं मिलता था, जैसे भोग विलास वैश्यके घर होते थे वैसे और कहीं देखनेमें नहीं आते थे, जैसा निश्चिन्त शूद्र होता था वैसा और कोई नहीं होता था।

(२) प्रत्येक वर्णके लिए एक विभूति नियत होती थी अर्थात् विद्यासे अपनी जातिका उपकार करनेवालेको मान, बलसे अपनी जातिकी रक्षा करनेवाले

को ऐश्वर्य्य, अर्थसे अपनी जातिका भरण पोषण करनेवालेको श्री, परिश्रमसे अपनी जातिका उपकार करनेवालेके लिए नैश्चिन्त्य नियत होता था। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बल अथवा धन अथवा परिश्रमसे अपनी जातिका उपकार करनेवालेका मान नहीं होता था, विद्या अथवा अर्थ अथवा परिश्रमसे अपनी जातिकी रक्षा करनेवालेको ऐश्वर्य्य नहीं मिलता था; किन्तु तात्पर्य्य यह है कि जितना मान विद्यासे जात्युपकार करनेवालेका होता था उतना और किसीका नहीं होता था, जितना ऐश्वर्य्य बलसे जातिकी रक्षा करनेवालेको मिलता था उतना और किसीको नहीं मिलता था, जितनी श्री अर्थसे जात्युपकार करनेवालेको दी जाती थी उतनी और किसीको नहीं दी जाती थी, जितना नैश्चिन्त्य सेवासे जात्युपकार करनेवालेको मिलता था उतना और किसीको नहीं मिलता था।

(३) ये विभूतियां जात्युपकारके अनुरूप होती थीं अर्थात् अपने वर्ण धर्म पालन द्वारा जो जितना जात्युपकार करता था उसको उतनी विभूति मिलती थी, बिना जात्युपकार किए कोई इन विभूतियोंका अधिकारी नहीं समझा जाता था।

(४) ये विभूतियां पुरस्कार रूपसे मिलती थीं अर्थात् बिना अपना वर्ण धर्म पालन किए किसीको ये विभूतियां प्राप्त नहीं होतीं थी, केवल ब्राह्मण होनेसे न किसीका मान होता था, केवल क्षत्रिय होनेसे न किसीको ऐश्वर्य्य प्राप्त होता था, केवल वैश्य होनेसे न किसीको लक्ष्मी प्राप्त होती थी, केवल शूद्र होनेसे न कोई निश्चिन्त होने पाता था।

(५) जब तक किसी मनुष्यमें दैवीसम्पद् परिपूर्ण रूपसे आत्मसात नहीं होजाती थी तब तक उसमें मान ऐश्वर्य्य श्री और नैश्चिन्त्यका संगम होने नहीं दिया जाता था; क्योंकि इनकी यौगपदिक प्राप्तिसे मनुष्य उन्मत्त होकर आपेसे बाहर होजाता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट होजाती है, अपरंच इनके सङ्गमको देखकर सब मनुष्य अपने अपने वर्ण धर्मको छोड़कर उस कामकी ओर दौड़ने लगते हैं कि जिसमें इनका संगम रहता है; इसी कारण इन दिनों सब वर्णोंके लोग अपने अपने वर्ण धर्मको त्यागकर सर्कारीनौकरीकी ओर खींचे चले जा रहे हैं और नीचसे नीच काम करनेमें भी सङ्कोच नहीं कर रहे हैं।

(६) अपने वर्ण धर्मके अतिरिक्त कोई मनुष्य दूसरे वर्णोंके कर्मको नहीं करने पाता था; क्योंकि आधिजीविक सिद्धान्तानुसार वंशपरम्परागत और दीर्घ सन्निकर्षजन्य संस्कारोंके अनुकूल कर्म करनेसे शान्ति सरलता और कौशल प्राप्त होता है, और तद्विपरीत कर्म करनेसे अशान्ति वैक्लव्य और वैकृति रहती है; अतएव कहा गया है कि

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"

इस प्रकार नैमित्तिक नैष्कृत्तिक सांस्कारिक आधारोंद्वारा त्यागके सुकर किए जानेसे और सामाजिक विभूतिसंयमद्वारा सब मनुष्य अपने अपने वर्ण धर्ममें प्रवृत्त किए जा सकते हैं; किन्तु बिना स्वधर्म पालनकी शक्ति और पटुताके और बिना उस शक्ति और पटुताके सदुपयोगके समाजको कुछ लाभ नहीं होता है वरन् उलटी हानि होती है; जब किसी वर्णमें स्वधर्म पालनकी योग्यता नहीं होती है तो समाजकी वही दशा होती है जो इस समय भारतकी हो रही है, और जब विराट् लय होनेसे किसी वर्णमें स्वधर्मका दुरुपयोग होने लगता है तो समाजमें अनर्थ हो जाता है; ब्रह्मकर्म के दुरुपयोगसे समाज निरे मूर्खों अथवा पठितमूर्खोंसे भर जाती है, क्षत्रकर्मके दुरुपयोगसे समाजमें मारकाट लूट खसोटा हुवा करते हैं; वैश्यकर्मके दुरुपयोगसे एक ओर विविध प्रकारके दुर्व्यसन और दुर्विलासोंका प्रचार होता है और दूसरी ओर लोग भूखे मरने लगते हैं, शूद्र कर्मके दुरुपयोगसे समाज पंगु बन जाती है। अतः वर्ण विभागके उद्देश्यके सफल होनेके लिए मनुष्योंमें स्वधर्म पालनकी रुचि शक्ति और पटुता होनी चाहिए और उनका दुरुपयोग नहीं होने देना चाहिए। किन्तु मनुष्यमें ऐसी रुचि ऐसी शक्ति ऐसी पटुता ऐसी उदारता तभी होती हैं कि जब उसके बुद्धि मन शरीरकी अनुकूल रचना होती है; ऐसी रचना किसी किसीमें जन्मान्तर संस्कारोंके कारण स्वभावतः होजाती है, नहीं तो सबमें वह बनाए बनानी पड़ती है। अतः दैशिक शास्त्रानुसार मनुष्यकी सामान्य आयुके चार भाग किए गए हैं। प्रथम भागमें आध्यापनिक शास्त्रानुसार उसके बुद्धि मन और शरीरकी अनुकूल रचना कीई जाती थी, द्वितीय भागमें उसको उस रचनानुसार अपने देश और समाजकी सेवा करनी पड़ती थी। द्वितीय और तृतीय भागमें यौवनके चले जाने पर आधिलयनिक शास्त्रानुसार जब मनुष्यकी उक्त रचनामें विकृतिके चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगते थे तो वह क्रमशः गृहस्थसे हटा दिया जाता था। ये चार भाग आश्रमके नामसे कहे जाते हैं; आश्रम चार होते हैं:—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास।

ब्रह्मचर्य्य आश्रममें दशसे चौदह वर्षके भीतर बालक गृहसे अलग करके नगरसे दूर स्थानमें किसी आदर्श रूप गुरुके आश्रममें भेज दिया जाता था, जहां राजकुमारोंसे लेकर तपस्वि बालकों तक सबको एक साथ एक प्रकार एक प्रकारके सात्विक भोजन और सात्विक सन्निकर्ष विषयक नियमोंका पालन करते हुए रहना पड़ता था, जहां शीतोष्ण सुखदुःख मानापमानकी अवहेलना करना, परस्त्रियोंको मातृवत् और पर द्रव्यको लोष्ट वत् देखना उसमें आत्मसात् कर दिया जाता था, जहां उसको समस्त ऐहिक और आमुष्मिक ज्ञान विज्ञानमें पाण्डित्य प्राप्त करवाया जाता था, जहां व्यवहारिक शिक्षाद्वारा उसको वर्णधर्ममें नैपुण्य करवाया जाता था, जहां ध्यान योगका उसको कुछ रसास्वादन और अभ्यास करवाया जाता था, जहां उसमें निष्काम बुद्धि उत्पन्न कराके उसको कर्मयोगकी शिक्षा दी

जाती थी। यौवन प्राप्त होने तक नित्य इसी प्रकारकी शिक्षा मिलनेसे मनुष्यमें एक ओर त्याग विवेक ओजकी वृद्धि होती थी और दूसरी ओर उसमें शान्ति और स्वधर्म कौशल भर आता था; जिससे मनुष्यके बुद्धि मन और शरीर ऐसे हो जाते थे कि जैसे धर्म अर्थ काम मोक्षके साधनके लिए होने चाहिएं। जब तक बटुके बुद्धि मन शरीरकी रचना पूर्णतया ऐसी नहीं हो जाती थी तब तक उसको इसी आश्रममें रहना पड़ता था। इस आश्रममें बटुका गुरुके प्रति यह भाव होता था कि " मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सब तोर "। अब दुर्भाग्यवशात् यह आश्रम यह शिक्षा शैली स्वप्नकी सम्पातियां हो गई हैं, अब इनके बदले यहां यूनिवर्सिटी, कौलेज और स्कूलोंकी धूम मची हुई है जहां विदेशी भाषाकी तूतियां, विदेशीसूक्तियोंके ग्रेमोफोन, परिचर्य्याके यन्त्र, नौकरीके चातक बनाए जाते हैं।

ब्रह्मचर्य्याश्रमके पूर्ण हो जाने पर बटु गुरुकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर जातिधर्म वर्णधर्म कुलधर्म और आश्रमधर्मका पालन करनेका सङ्कल्प करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता था, इस आश्रममें उसकी समस्त चेष्टाएँ बहुजनहिताय बहुजनसुखाय होती थीं, देश और जातिके प्रति उसका वही भाव होता था जो ब्रह्मचर्य्याश्रममें गुरुके प्रति होता था, ओज विवेक त्यागको काममें लानेसे रजोद्दमन करके वह व्यक्ति गत और जातिगत हित करता हुवा चतुर्वर्ग साधन करता था ।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम रूपी रङ्ग शालामें बीस पचीस वर्ष अपना सुन्दर अभिनय करके और उस रङ्ग में अपने पुत्र रूपी दूसरे पात्रका प्रवेश होजाने पर दर्शक मण्डलीकी हर्षध्वनिके बीच निष्क्रमण करके वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश किया जाताथा। इस आश्रममें भगवानके चरणारविन्दोंके अतिरिक्त और किसी बातका ध्यान नहीं रखा जाता था, इस आश्रममें भगवानके प्रति वही भाव रखा जाता था जो गृहस्थाश्रममें देशके प्रति होता था। इस आश्रमकी विशेषता यह होती थी कि एक ओर तो गृहस्थसे न्यस्तभार होकर ध्यानयोगजन्य परमानन्दका भोग किया जाता था और दूसरी ओर पुरानी और निस्सत्व व्यक्ति रूप शाखाएँ कट कर समाज रूपी वृक्षकी कलम हो जाती थी।

वानप्रस्थाश्रममें निष्ठा हो जाने पर सन्यास धारण किया जाता था; शेष आयु समाधि अवस्थामें अथवा जीवन मुक्तावस्थामें बिताई जाती थी, शरीरसे बहुत कम प्रयोजन रहता था, इस आश्रममें मैं मेरा तू तेरा कुछ नहीं रहता था, सारा जगत ब्रह्ममय हो जाता था, किन्तु यह अवस्था बिरलेही भाग्यशालीको प्राप्त होती थी। अतः इस आश्रमके विषयमें स्मृतिकारोंके भिन्न भिन्न मत पाए

जाते हैं, किसीके मतानुसार कलिकाल में केवल वे ब्राह्मण ही सन्यास धारण कर सके हैं जो पहिले ऋताशी अथवा अमृताशी रहे हों, किन्हींके अनुसार जिनको समाधि प्राप्त हो जाती है वे सदा सन्यास धारण कर सकते हैं। किंतु दैशिकशास्त्र की इस विवादसे कुछ प्रयोजन नहीं है।

समाजमें वर्णाश्रम धर्मका ठीक ठीक पालन होनेसे अधोलिखित उद्देश सिद्ध होते हैं:—

(१) व्यक्ति अथवा समाजके बाह्याभ्यन्तरिक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विषयोंमें साम्य हो जाता है।

(२) व्याष्टिगत और समष्टिगत हितोंका संयोग हो जाता है; जिससे समाजके हितार्थ ब्राह्मण दारिद्र्य को, क्षत्रिय प्राणसंशय को, वैश्य चिन्ता को, शूद्र सेवा को आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं।

(३) समाजमें सर्वत्र सन्तोष रहता है जिससे देशद्रोह का बीज उत्पन्न होने नहीं पाता।

(४) समाजमें सर्वत्र प्रेम और ऐक्य रहता है जिससे सर्वत्र अभ्युदय रहता है।

(५) मान के साथ दारिद्र्य, ऐश्वर्य्य के साथ प्राणसंशय, श्रीके साथ भार, नैश्चिन्त्य के साथ विनय का संयोग होनेसे ब्राह्मण अभिमानी नहीं होने पाते हैं, न क्षत्रिय उच्छृङ्खल होते हैं, न वैश्य दुर्व्यसनी होते है, न शूद्र असन्तोषी होने पाते हैं; फलतः समाजमें सर्वत्र साम्य रहता है।

(६) समाजमें कार्य्य विभाग हो जाता है। किसी काम को सुकर और सुसम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अनेक विभाग किए जांय; एक व्यक्ति के अनेक कामोंमें हाथ डालनेसे उसको ज्ञानतो थोड़ा बहुत सब कामोंका हो जाता है, किन्तु कौशल एक में भी प्राप्त नहीं होता है; अनेकों के एक ही काम में लगनेसे उन सब को एक काम में कौशल तो प्राप्त हो जाता है किन्तु और कामों का किसी को भी ज्ञान नहीं होता है; इसके प्रतिपक्ष एक काम के अनेक भाग करके एक एक भाग एक एक व्यक्तिको सौंप देने से उस के सब भाग सुसाध्य और सुसम्पन्न हो जाते हैं।

(७) जाति रूपी वृक्ष की कलम होजाती है: किसी आधिजीविक पदार्थ को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है कि समय समय पर उसकी कलम कीजाय

अर्थात् उसका सहानुभूति शून्य अथवा कुसंस्कारयुक्त अङ्ग निकाल कर अलग कर दिया जाय जिससे उसके और अङ्ग संसर्ग दोषसे दूषित न होने पावें। वानप्रस्थ आश्रमसे वे लोग समाजसे अलग कर दिये जाते हैं जो वार्धकके कारण विषराण और सहानुभूति शून्य हो जाते हैं ।

वर्णाश्रम धर्मकी छाया प्लेटोके रिपब्लिक और अरिष्टोटलके पौलिटिक्समें भी पाई जाती है।

आचार्य प्लेटोके मतानुसार आदर्शरूप समाज ऐसी होनी चाहिए कि जिसमें कुछ लोग गुणकर्मानुसार अन्न वस्त्र उत्पन्न किया करें, इसके अतिरिक्त उन लोगोंका और कुछ काम न हो; कुछ लोग ऐसे हों कि जो क्रय विक्रय द्वारा उस अन्नको समाजके लिए सदा सुलभ रखें; कुछ दृढशरीरवाले लोग ऐसे हों कि जो वेतन लेकर समाजकी सेवा शुश्रूषा किया करें; कुछ ऐसे लोग समाजकी रक्षाके लिए नियत हों कि जो निश्चिन्त निपुण और बुद्धिमान हों, जिनको अपने कामका दीर्घाभ्यास हो, जो स्वजातियोंके प्रति विनीत और पर जातियोंके प्रति भयङ्कर हों, जो धीर ज्ञानी तेजस्वी और स्फूर्तिमान हों । जहां मनुष्योंके चित्तमें बाल्यावस्था सेही मृत्युभय और नीच वीभत्स संस्कार नहीं पड़ने दिये जांय; जहां मनुष्योंका शरीर व्यायाम द्वारा स्वस्थ और सुडौल बनाया जाय और गान्धर्व विद्या द्वारा उनके चित्तमें शालीनता और चित्तप्रसादनके संस्कार डाले जांय। जहां शासक और उनके अधिकारी परस्परच्छन्दानुवर्ती हों।

जहां अधिकारीलोग ऐसे हों कि जो सुयोग्य अप्रमत्त बुद्धिमान और सावधानहों, जो देशसेवाके रसिक हों, जो समाजकी सुखसमृद्धिको अपनी सुख समृद्धि समझते हों; जहां सम्पत्तिका न अत्यन्त प्राचुर्य और न अत्यन्त अभाव हो; जहां नित्य सत्संस्कार और सत्शिक्षाका योगक्षेम होता हो; जहां लोगोंको बाल्यावस्था सेही दैशिक धर्मकी शिक्षा मिलती रहै; जहां छोटी छोटी बातोंके लिए कानून नहीं बनाये जाते हैं और न बार बार कानूनोंका परिवर्तन होता है।

जहां स्त्री बालक प्रजा शासक स्वतन्त्र परतन्त्र शिल्पी इत्यादि सब लोग अपने अपने काममें लगे रहते हों, कोई एक दूसरेके काममें हस्ताक्षेप नहीं करता है—एक प्रकारके लोगोंका दूसरे प्रकारके लोगोंके काममें हस्ताक्षेप करनेसे अथवा एक मनुष्यका अनेक प्रकारके लोगोंके काममें हाथ डालनेसे समाजमें घोर अनर्थ हो जाता है।

जहां विवाह पद्धति शुद्ध संस्कार युक्तहो, जहां उत्तम दम्पत्तियोंके सन्तान केवल यौवनमें ही उत्पन्न हों; जहां एकान्त स्थानमें शिक्षा केवल उत्तम संस्कारयुक्त बालकों को ही दिई जाती है, न कि दुष्ट कुसंस्कार युक्त बालकोंको; जहां भीरु अथवा स्वकर्म विमुख क्षत्रिय लोग शूद्र कक्षामें रखे जाते हों।

जहां भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें बसे हुए एक जातिके लोग अपने को एक दूसरेसे भिन्न नहीं समझते हों, जहां उनमें परस्पर द्रोह न हो वरन एक दूसरेसे प्रेम रखते हों; जहां सब लोग जातीय रीतियोंको बरतते हों !

जहां शासक लोग विद्वान और पण्डित हों; जहां अध्यात्म शास्त्र और दैशिक शास्त्र एक दूसरेके अङ्ग समझे जाते हों; जहां अधिकार ऐसे लोगोंको दिए रहते हों जो मर्य्यादा और व्यवस्थासे बाहर कभी न जाते हों; जहां अधिकार योग्य व्यक्तियोंको ढूंढ कर आदर पूर्वक दिए जाते हों, न कि नौकरीके लिए अर्जी देने वालोंको।

जहां समाज संचालनका काम पण्डितोंके हाथमें हो न कि पण्डितमानियों के हाथमें; जहां राज्याधिकार ऐसे लोगोंके हाथमें हो जो उनको तुच्छ समझते हों और जो ऐसी अवस्था का रसास्वादन कर चुके हों जो शासन करनेकी अपेक्षा बहुत रमणीय हो।

जहां बाल्यावस्थामें गणित ज्योतिष और आन्वीक्षिकी विद्याद्वारा मनुष्योंकी बुद्धिमें पैन लाई जाती हो, जहां गुरुशिष्योंमें सख्य भाव रहता हो, जहां सबसे प्रथम स्वास्थ्यका योगक्षेम किया जाता हो, तदनु सरल विज्ञानोंकी शिक्षा दी जाती हो, तदनन्तर पुरुषार्थके काम किए जाते हों और अन्तमें शान्तिसे काल क्षेप किया जाता हो।

जहां विद्या और गुणोंकी वृद्धिके साथ मान की भी वृद्धि होती हो, जहां गौरव सद्गुणोंका होता हो न कि सम्पत्ति का।

जहां एक मनुष्य अनेक काम नहीं करता हो; जहां कोई निरुद्यमी नहीं होने पाता हो; जहां कोई न अति धनानुरागी हो, न कोई अति विषयानुरागी हो; जहां सब लोग युक्ताहार बिहार शील हों; जहां आलसी और अल्पव्ययी लोग दूरसेही फटकार दिए जाते हों, जहां सब लोग आत्मनिष्ठ हों।

ये बातें आचार्य्य प्लेटोके रिपब्लिकसे लीगई हैं, जिसके छटे अध्यायमें कुछ ऐसा सङ्केत भी किया हुवा है कि किसी दूर देशमें जहां यवनोंका राज्य नहीं है ऐसी आदर्श रूप समाज अब तक वर्तमान है और जहां राजकमार ज्ञानके रसिक

हुवा करते है । यह बात विचारास्पद है कि आचार्य्य प्लेटोके बहुत पहिले कपिलवस्तुके युवराज भगवान् बुद्धदेवके उपदेशक यूनानमें पहुंच चुके थे; अतः अनुमान होता है कि आचार्य्य प्लेटोका वह दूर देश हमारा भारत ही था । चाहे कुछही हो उनका रिपब्लिक हमारे दैशिक शास्त्रकी छाया लेकर रचा गया है ।

इस विषयमें आचार्य अरिष्टोटलस्का भी मत प्रायः अपने गुरुका जैसा ही है; उनके मतानुसार वह समाज सर्वोत्तम होती है कि जिसमें सब लोग एक ही जातिके होते हैं, यदि अनेक जातियोंके हों तो उनमें एकरसवाहिता आगई हो; जिसका संचालन बिलकुल नीति और मर्यादाके अनुसार होता है; जहां मर्य्यादा पूर्वक सब आवश्यक पदार्थ सदा सुलभ रहते हैं; जहां लोग धनका बहुत मान नहीं करते हैं; जहां लोग कृषि और पशुपालनमें चतुर होते हैं ।

जहां समाजका श्रेय विद्या सुनीति और सदाचार पर समझा जाता है न कि नये नये कानून बनाए जाने पर; जहां दारिद्र्य निवारणके उपाय सदा काममें लाए रहते हैं; जहां मनुष्योंकी बड़ी तृष्णा नहीं होती है और उचित आवश्यकतानुसार किसीको अन्न वस्त्रका कष्ट भी नहीं रहता है; जहां विद्या और आत्मनिग्रह का प्रचार रहा करता है; जहां ऊंचे लोगोंकी तृष्णा और नीच लोगोंकी प्रतिपत्ति बढ़ने नहीं दी जाती है; जहां स्त्रीजनोंमें स्वेच्छाचार नही आने दिया जाता है; जहां लोग निर्लोभी और निराकांक्षी होते है; जहां लोग राज्यको बिगड़ने नहीं देते हैं; जहां समाजकी रक्षा करने वाले लोग निश्चिन्त रखे जाते हैं; जहां पेटके लिए उनको कोई नीच और अननुरूप काम करने नहीं दिया जाता है ।

✓ जहां प्रत्येक व्यक्ति समाजके हित साधनमें लगा रहता है; जहां सब लोग साहसी और जातिधर्म परायण होते है; जहां शासन सुयोग्य सुशील कुलीन बुद्धिमान मेधावी आत्मनिग्रही तेजस्वी सुकृती और नय विशारद लोगोंके हाथमें दिया रहता है; जहां सर्वत्र उक्त प्रकारके गुणवान् शासक होते है; जहां सब मनुष्य प्राकृतिक नियमोंके अनुसार चला करते हैं ।

वह समाज श्रेष्ठ होती है जो आत्मरक्षा और आवश्यक पदार्थोंके लिए किसी दूसरी समाज पर निर्भर नहीं होती है; जहां प्रजा राज्यकी दुष्प्रवृत्तिको रोकनेकी सामर्थ्य रखती हैं; जहां लोग मध्यस्थ वृत्ति और समानावस्था वाले होते है; जहां कोई न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा होता है; जहां राज्याधिकारी लोग लोभी और उद्धत नहीं होते है; जहां लोग खुशामदी नहीं होते हैं; जहां किसी बातकी अननुरूप वृद्धि नहीं होती है; जहां लोग मुखबिर और चुगलखोर

नहीं होते हैं, जहां लोग मितव्ययी परस्पर विश्वासी और श्रद्धावान् होते हैं जहां शासक सत्पात्र प्रेमी नीतिपरायण सुकृतानुरागी होते हैं; जहां दैशिक और जातीय शिक्षा बाल्यावस्थासे ही दी जाती है।

जहां लोग तेजस्वी आत्मनिग्रही न्यायपरायण बुद्धिमान उत्साही स्वकर्मरत होते हैं; जहां गुण और आवश्यकतानुसार समाज और राष्ट्रका विभाग किया रहता है; जहां लोगोंको निष्काम सत्कर्म करनेमें आनन्द होता है न कि समाजसे अलग रहनेमें; जहां अन्नके लिए कृषकों की कमी, रक्षाके लिए योद्धाओंकी कमी, धनके लिए महाजनोंकी, यज्ञादिके लिए पुरोहितोंकी कमी, न्यायके लिए प्राड् विपाकोंकी कमी नहीं रहती है; जहां लोगोंको बड़े काम करनेके लिए यथेष्ठ समय मिलता है; जहां राज्याधिकारी लोग स्वभावसे वंशपरम्परासे और शिक्षा से अपने अपने कामके योग्य होते हैं।

जहां कानून पूर्वापर विचार करके सब बातोंका ध्यान रख कर बनाए जाते हैं; जहां लोग ऐसे ढांचेमें ढाले जाते हैं कि जो सर्वत्र सुयोग्य निकलते हैं, चाहे वे किसी अवस्थामें रखे जांय; जहां उपयोगिताके साथ सौन्दर्य्यका और सौन्दर्य्यके साथ उपयोगिताका विचार किया जाता है, जहां सब लोग वशी, वीर, धैर्य्य-शाली और युक्ताहारविहारशील होते हैं।

जहां सब लोग अपनेको अपनी समाजका अङ्ग समझते हैं और जहां बालकोंकी उत्तम शिक्षाका प्रबन्ध समाजके हाथमें होता है न कि राज्यके हाथमें

अरिष्टोटलके उक्त विचारोंमें भी हमारे वर्णाश्रम धर्मका प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है, किन्तु इतने स्पष्ट रूपसे नहीं जितना कि प्लेटोके विचारोंमें; कारण इसका यह है कि प्लेटोका लक्ष्य था सर्व श्रेष्ठ समाजका निरूपण करना, अत: उनके रिपब्लिकमें वर्णाश्रम धर्मका प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है । अरिष्टोटल का लक्षथा भिन्न भिन्न प्रकारके राज्योंका वर्णन करना, केवल प्रसङ्गवशात् उस में श्रेष्ठ समाजका वर्णन आगया है; अतः उनके दैशिक शास्त्रमें वर्णाश्रम धर्मकी छाया अधूरी जान पड़ती है।

इन दिनों पाश्चात्य देशोंमें आचार्य प्लेटोके रिपब्लिक और आचार्य अरिष्टोटलके दैशिक शास्त्रके आधार पर समाज रचनाकी कुछ चेष्टा हो रही है जो सोश्यालिज्म अथवा बोलसविज्म अर्थात् साम्यवादके नामसे कही जारही है। साम्यवादियोंके मतानुसार उनकी वर्तमान सामाजिक अवस्था अनभीष्ट है, किन्तु अपने देशमें अनभीष्ठ समझी जानी वाली इस पाश्चात्य समाजके ढांचेमें अपनी समाजको ढालना चाहनेवाले इन लोगोंके मतानुसार वर्णाश्रम धर्म अत्यन्त अनभीष्ट

वस्तु है; वर्ण प्रथा ही हमारी उन्नतिके मार्गमें बाधा डाल रही है, बिना इसका नाश हुए हमारी उन्नति नहीं हो सकती है, इस प्रथाका नाश होने हीसे हमारी उन्नति होने लगेगी।

यद्यपि संसारमें, संसारमें क्या हमारे ही भारतमें बहुत लोग ऐसे भी हैं कि जिनमें वर्ण व्यवस्था नहीं है तथापि वे हमसे बहुत गिरी अवस्थामें हैं किन्तु इनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। अधोमुखी जातियोंकी बुद्धि बहुधा ऐसी ही हुआ करती है। वर्तमान यूरपसे विद्यमान भारतकी तुलना करके हम लोग वर्णाश्रम धर्मकी महिमाको काल्पनिक और अतिशयोक्ति समझते हैं किन्तु हमको यह विचार नहीं रहता है कि विद्यमान सविराट् यूरपसे वर्तमान निर्विराट भारतकी तुलना नहीं होसकती है; ऐसी तुलना बहुधा भ्रान्तिजनक होती है, यह सब जानते हैं कि मरे हुए मृगराजकी अपेक्षा जीता चीता बहुत ओजस्वी होता है, सूखे गुलाबकी तुलनामें हरा कुंज बहुत सुगन्ध युक्त होता है, किनारेमें बैठे हुए हंसकी अपेक्षा सरोवरमें तैरता हुवा बक अति शोभायमान होता है। अपरंच यह भी स्मरण रखना चाहिए हमारा आदर्श रूप विद्यमान यूरप जीवनयात्रा की जटिलता और कामक्रोध लोभमोह मदमत्सरकी वृद्धिसे दिन प्रतिदिन विपर्य्यस्त होता जारहा है; जिसके कारण इन दिनों वहां राजा और प्रजाके बीच, सर्दारों और रय्यतोंके बीच; साहूकार और मज्दूरोंके बीच, स्त्रियों और पुरुषोंके बीच दलबन्दी हो रही है। जिस समाजमें ऐसा अर्थ वैपर्य्य हो और जिसमें लोग एक ओर तो काम क्रोधादिसे विपर्य्यस्त हों और दूसरी ओर उसमें जीवन यात्राकी समस्या जटिल होती जा रही हो, बिचारिए वह समाज कहां तक अभीष्ट और आदर्श रूप समझी जानी चाहिए; वास्तवमें ऐसी समाजवाले स्वर्गकी अपेक्षा तद्विपरीत समाजवाला नरक बहुत अभीष्ट होना चाहिए। यूरपीय समाजोंमें मुल्लमा तभी तक चढ़ा हुवा है कि जब तक संसारके अन्य देश सोए हुए हैं, उनके जागते ही यूरपीय समाजें अपना असली रङ्ग देने लगेंगी, उन्होंने बहुत कुछ रङ्ग तो इसी महायुद्धमें दे दिया है। भगवान् भास्करके तिरछी मरीचियोंसे रंजित हिमालयके शिखर दूरसे जैसे रमणीय दिखाई देते हैं वास्तवमें वैसे नहीं होते हैं।

जो कुछहो यूरपकी वर्तमान सामाजिक अवस्था अपने देशमें अभीष्ट नहीं समझी जा रही है, उसका परिवर्तन करनेके लिए ही वर्तमान सोश्यलिज्मका जन्म हुवा है। सोश्यलिज्म अभी बाल्यावस्थामें ही है अतः कहा नहीं जासकता है कि सोश्यलिष्ट लोग अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए किन उपायोंको काममें लाएंगें और इन उपायोंसे कहां तक कृतार्थ हो सकेंगें; उनके गुरु प्लेटो और अरिष्टोटलसकी आदर्शरूप समाजकी रचना ग्रीसमें न होसकी। किन्तु उनसे बहुत पहिले

भारतमें उससे भी श्रेष्ठ समाजकी रचना हो चुकी थी, जो उनके समय तक बहुत कुछ भ्रष्ट हो चुकी थी, तथापि जो यवनाचार्योंकी आदर्शरूप समझी जाती थी, जो अब नष्ट प्राय हो चुकी है, किन्तु पूर्व संस्कारोंसे उसकी प्राचीन महिमा का अनुमान होसकता है।

क्या कारण था कि छोटे ग्रीसमें प्लेटो और अरिष्टोटलकी आदर्शरूप समाजकी रचना न होसकी, किन्तु विशाल भारतमें उससे भी श्रेष्ठ समाजकी रचना होगई ?

कारण इसका यह जान पड़ता है कि यवनाचार्योंके दैशिक शास्त्रका आधार था कानूनों पर, कानून रचना द्वारा उन्होंने अपनी कल्पनाको कार्य्यमें परिणत करना चाहा, अतः उनकी कल्पना कल्पनामात्र ही रही, वह कभी कार्य्य में परिणत न होसकी; किन्तु हमारे दैशिक शास्त्रका आधार था आधिचित्तिक और आधिजीविक शास्त्रों पर, इन शास्त्रोंके अनुसार दैवीसम्पदको समष्टिगत करके उन्होंने अपनी कल्पनाको कार्यमें परिणत करना चाहा; अतः उनकी कल्पना अनायास कार्य्यमें परिणत होगई।

यह स्मरण रहना चाहिए कि हमारे समस्त शास्त्रोंका एक सर्वसम्मत सिद्धान्त यह है कि धर्मकी संस्थापना कानून बनानेसे, नीतिकी दोहाई देनेसे, धर्मकी पुकार करनेसे, तर्कका सहारा लेनेसे नहीं होती है; यह होती है केवल तेज त्याग विवेकके संयोगसे; इसी विधिसे बार बार देवताओंने धर्मकी संस्थापना की और भविष्यमें भी ऐसा ही होगा।

इति दैशिक शास्त्रे विराडध्याये
वर्णाश्रम विभागो नाम
द्वितीयाह्निकः

तृतीय आह्निक ।

अर्थायाम ।

जिस धर्मकी परिभाषा पूर्वाह्निकमें कही गई है धारणा उसकी होती है वर्णाश्रम प्रथासे और हानि उसकी होती है अर्थके अभावसे अथवा प्रभावसे अर्थात् धनके बिलकुल न होनेसे अथवा उसका अत्यन्त मान होनेसे धर्म निभ नहीं सकता है; अर्थ अभाव और प्रभाव दोनों रूपोंसे धर्मको नष्ट कर देता है। पूर्व पक्षके विषय कुछ कहनेकी आवश्यकताही नहीं; क्योंकि सब इस बातको जानते हैं कि जिस समाजमें पेट भर खानेको अन्न नहीं, पहननेको वस्त्र नहीं, शत्रुओंसे लड़नेको लिए सामान नहीं वह धर्मकी क्या जाने; धर्म पालन करना भूखे नङ्गोंका काम नहीं है। उत्तर पक्षके विषय यह सिद्ध है कि मनुष्य सदा मान ऐश्वर्य विलास नैश्चिन्त्य इन चारोंमेंसे एक न एकके लिये उद्योग किया करता है; जब तक ये सामाजिक विभूतियां धर्म पालनके प्रतिफल रूपमें मिला करती हैं तब तक सब लोग अपने अपने धर्ममें स्थिर रहते हैं; किन्तु जिस समाजमें धनका अत्यन्त प्रभाव होता है ये सामाजिक विभूतियां धनके पीछे पीछे मारी फिरती हैं; अतः उस समाजमें सब लोग अपने अपने धर्मको छोड़ कर अर्थ सञ्चयकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं ।

धनके अभाव और प्रभाव दोनोंसे समाज अर्थमात्रिक हो जाती है, ऐसा होनेसे लोगोंको अर्थभ्रमहो जाता है अर्थात् वे अर्थके तत्त्व और अभिप्रायको भूल कर उनको अन्यथा समझने लगते हैं। अर्थभ्रमसे मोह और कौटिल्यकी वृद्धि, विवेक और पौरुषका क्षय हो जाता है; फलतः समाजमें सर्वत्र

"इरषा परुषा धन लोलुपता
भरि पूरि रहे समता विगता।
सब लोग वियोग विशोक हुए
वरणाश्रम धर्म अचार गये ॥"

अतः धर्मकी रक्षा करनेके लिये अर्थके अभाव और प्रभाव दोनोंको रोकना, धनको वशमें रखना, लोगोंको उसके वशमें न होने देना, समाजमें उसकी न अत्यन्त घृणा न अत्यन्त गौरव होने देना अत्यन्त आवश्यक है; इस प्रकार अर्थको मर्यादामें रखना अर्थायाम कहा जाता है।

जैसे प्राणके अनियन्त्रित रहनेसे प्राणीकी मानसिक और शारीरिक अवस्था

बिगड़ कर उसका जीवन दुःखमय हो जाता है. किन्तु प्राणायामसे उसकी शारीरिक और मानसिक अवस्था बहुत सुन्दर होकर जीवन आनन्दमय हो जाता है; एवं अर्थके अनियन्त्रित रहनेसे समाजकी बाह्याभ्यन्तरिक अवस्था बिगड़ कर उसमें रहना दुःखमय हो जाता है, किन्तु अर्थायामसे समाजकी बाह्याभ्यान्तरिक अवस्था सुधर कर उसमें रहना सुखमय होता है।

अर्थायामके चार चरण होते हैं:—

(१) सामाजिक विभूति संयम, (२) विनिमय प्रथाकी रक्षा, (३) अन्न प्राचुर्य्य, (४) कृषि गोरक्षा।

सामाजिक विभूति संयम—इसका वर्णन पूर्व आह्निकमें हो चुका है. इस उपायसे अर्थ मान ऐश्वर्य बिलास नैश्चिन्त्यका आधार होने नहीं पाता, लोग उसको कामधेनु समझने नहीं पाते हैं, उनको उन विभूतियोंके लिये विशेष प्रकारसे समाजकी सेवा करनी पड़ती है; अतः अर्थ किसीको अपने धर्मसे च्युत करके अपना दास नहीं बना सकता है ।

विनिमय प्रथाकी रक्षा—अधोलिखित तीन सिद्धान्त सर्व विदित हैं:—

(१) भोक्ताओंकी अपेक्षा उत्पादकोंकी संख्या अधिक होनेसे समाजमें सदा अर्थका प्राचुर्य्य रहा करता है; ऐसी आर्थिक अवस्था समाजके लिये श्रेयस्करी होती है। उत्पादकोंकी अपेक्षा भोक्ताओंकी संख्या अधिक होनेसे समाजमें सदा अर्थकी दुर्लभता रहा करती है; ऐसी आर्थिक अवस्था समाजके लिये अनर्थकरी होती है।

(२) द्रव्यका जितना गौरव होता है उतनी उसकी क्रयशक्ति बढ़ती है। द्रव्यकी क्रयशक्ति बढ़नेसे उसमें लोग बड़ी श्रद्धा और बड़ा भरोसा करने लगते हैं। ऐसा होनेसे सारी प्रजा द्रव्यसञ्चयकी ओर झुक पड़ती है, जिसका अवश्यं भावि परिणाम यह होता है कि समाजमें मुख्य अर्थका उत्पादन कम और गौण अर्थका उपार्जन अधिक होने लगता है । फलतः समाजमें उत्पादकोंकी अपेक्षा भोक्ताओंकी संख्या अधिक हो जाती है । अभी पहिले सिद्धान्तमें यह कहा गया है कि उत्पादकोंकी अपेक्षा भोक्ताओंकी संख्या अधिक होनेसे समाजमें आजीविका कष्टसाध्य हो जाती है; आजीविकाके कष्टसाध्य होनेसे लोगोंका मुख्य धर्म हो जाता है येनकेन पेट भरना। अपरञ्च धनका गौरव होनेसे बँचना और प्रतारणाकी अनेक अनेक रीतियोंका आविर्भाव होने लगता है, भांति भांतिसे परस्व हरणमें जो चतुर होते हैं वे सम्पन्न रहते हैं और जो उसमें चतुर नहीं

होते हैं वे विपन्न रहते हैं, विपन्नोंको अन्न वस्त्रके अतिरिक्त और किसी बातका विचार नहीं रहता है। इस प्रकार सम्पन्न हुए लोगोंको सदा लूट खसोटकी ही सूझी रहती है, जब पर्याप्त लूट खसोठ होजाती है तो कालान्तरमें बन्द पानीके समान सड़कर उनकी सञ्चित सम्पत्ति बाहर निकलने लगती है तो समाजमें नीच संस्कार फैलने लगते हैं जिनसे समाज निस्तेज और धर्मभ्रष्ट हो जाती है।

(३) जब तक समाजमें कुछ लोग दारिद्र्यपीड़ित नहीं होते हैं तब तक उसमें द्रव्यसे कुछ काम नहीं चल सकता है; समाजमें जितनी दरिद्रियोंकी संख्या अधिक होती है उतना उसमें द्रव्यसे अधिक काम चल सकता है; अतः जो समाज अथवा व्यक्ति अर्थोपार्जनकी उपेक्षा करके द्रव्योपार्जन करने लगता है तो उसके चित्तमें अन्य समाज अथवा अन्य व्यक्तियोंको दरिद्री बनाए रखनेका अशिव सङ्कल्प उत्पन्नहो जाता है। जब यह अशिव सङ्कल्प कार्य्यमें परिणत होने लगता है तो समाजकी जो अवस्था होती है वह भली भांति अनुमान कीजा सकती है।

उक्त तीन सिद्धान्तोंसे यह सिद्ध होता है कि द्रव्यके अत्यन्त गौरव और प्रचारसे समाजमें भोक्ताओंकी अपेक्षा उत्पादकोंकी संख्या न्यून हो जाती है, द्रव्यकी क्रय शक्ति बढ़ जाती है, दरिद्र्यपीड़ित लोगोंकी संख्या अधिक हो जाती है; इन तीन बातोंसे लोग धर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः द्रव्यके अत्यन्त गौरव और प्रचारको रोकना परमावश्यक समझा जाता है, द्रव्यका गौरव और प्रचार तभी रुक सकता है जब द्रव्यकी आवश्यकता अथवा उपयोगिता कम कर दी जाय, द्रव्यकी आवश्यकता अथवा उपयोगिताको कम करनेका एक मात्र उपाय है विनिमय प्रथा।

विनिमय कहते हैं एक आवश्यक वस्तुके बदले दूसरी आवश्यक वस्तुको देना अथवा कोई आवश्यक काम करना। इस प्रथाके चलनसे द्रव्यकी आवश्यकता और उपयोगिता तो कम होजाती है किन्तु साथही इसके वाणिज्यमें कठिनाई भी होने लगती है। अपरञ्च यह प्रथा बलात् चलाये चल नहीं सकती है; और बलात् चलाया हुआ कोई काम श्रेयस्कर नहीं होता है। अतः इस प्रथाको चलानेके नियम हैं:—

(१) सिक्कोंका अनाधिक्य, (२) सिक्कोंका मूल्य अपने धातुके मूल्यके बराबर होना, (३) नगरोंकी अपेक्षा ग्रामोंमें सिक्कोंका प्रचार कम होना, (४) नगरोंमें विनिमय और क्रय विक्रय दोनों प्रथाओंका प्रचार रहना, (५) अन्तर्जातीय वाणिज्यमें केवल सिक्कोंका चलन होना।

सिक्कोंका अनाधिक्य—विनिमय प्रथाकी अपेक्षा क्रयविक्रय प्रथा अधिक सरल और सुकर होती है, क्रयविक्रयको अनायास चलानेके लिये सिक्के बनाए जाते हैं, सिक्के यथासम्भव सुवाह्य सुधार्य्य और सुरक्ष्य बनाये जाते हैं, सञ्चय किए जानेके लिये अन्नादिकी अपेक्षा सिक्के बहुत अच्छे होते हैं; अतएव विनिमय प्रथाकी अपेक्षा सिक्कोंका चलन रुचिकर होता है, इसी कारण सिक्कोंकी बहुतायतसे विनिमय प्रथा उठती जाती है। जब समाजमें सिक्कोंकी कमी होती है तो मनुष्योंको लाचारी विनिमय प्रथा काममें लानी पड़ती है। अतः विनिमय प्रथाको बनाए रखनेके लिये समाजमें सिक्कोंकी बहुतायत नहीं होनी चाहिए।

(२) सिक्कोंका मूल्य अपने धातुके मूल्यके बराबर होना—सिक्कोंकी बहुतायत केवल सर्कारी टकसालसे ही नहीं होती है; किन्तु लोगोंके निजी टकसालोंसे भी हुआ करती है। जब तक सिक्कोंके बनानेमें लाभ नहीं होता है तब तक कोई निजी टकसाल नहीं रखता है, जब तक सर्कारी टकसालसे निकले हुए सिक्कोंका मूल्य उनके धातुके मूल्यके बराबर होता है तब तक किसीको असली धातुके निजी सिक्के बनानेसे कुछ लाभ नहीं हो सकता है, यदि कोई मिलावटी धातुके खोटे सिक्के निकाले तो बाजारमें उनका चलन नहीं होता है और उनके पकड़े जानेकी बहुत सम्भावना रहती है। अतः सर्कारी टकसालोंसे निकले हुये सिक्कोंका मूल्य उनके धातुके मूल्यके बराबर होनेसे निजी सिक्कोंका निकलना बन्द हो जाता है। इन दिनों हमारे भारतमें सिक्कोंका मूल्य उनके धातुके मूल्यसे अधिक होनेके कारण बाजार जाली सिक्कोंसे भरे हुये हैं। हाल ही में निकल धातुके सिक्कोंके टकसालसे बाहर आते ही जाली सिक्कोंकी बहुतायत होने लगी; इसके प्रतिपक्ष ज्योंही सोनेका मूल्य सोवरिनसे बढ़ने लगा त्योंही बाजारमें सौवरिनोंकी कमी होने लगी। अतः सिक्कोंकी बहुतायतको रोकने और विनिमय प्रथाको चलती रखनेके लिये सिक्कोंका मूल्य धातुके मूल्यसे अधिक नहीं होना चाहिए। अतएव प्राचीन भारतमें सोने चांदीकी बहुतायत होते हुए भी सिक्के बहुत कम होते थे।

इस दृष्टिसे काग़ज़ी रुपयोंका चलन और भी अधिक अनभीष्ट समझा जाता है; क्योंकि इस चलनसे न केवल विनिमय प्रथाकी हानि होती है; किन्तु इससे समाजमें अर्थ सङ्कट होनेकी सम्भावना भी रहती है। क्योंकि काग़ज़ी रुपये निकालने वालेको कोई वस्तु किसी भावमें खरीदनेमें हानि नहीं होती है, और उस खरीदी हुई वस्तुको जिस भावसे बेचता है उसमें उसको लाभ रहता है; एक काग़ज़के टुकड़ेमें वह सारी समाजकी आंतें बाहर निकाल सकता है; अतः यदि काग़ज़ी रुपये निकालने वाला दूसरे देशोंसे मुख्य अर्थका व्यापार करता है तो समाजमें अर्थ सङ्कट उपस्थित हो जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये

कि कागजी रुपयोंके चलनसे समाजमें अर्थसङ्कट तभी हो सकता है कि जब वे बतौर सिक्कोंके चलते हैं न कि बतौर हुण्डियों के।

(३) नगरोंकी अपेक्षा ग्रामोंमें सिक्कोंका प्रचार और भी कम होना—कारण इसका यह है कि नगरों अथवा नागरिकोंकी अपेक्षा ग्रामोंमें अथवा ग्राम्यजनों द्वारा ही मुख्य अर्थका उत्पादन हुआ करता है; ग्रामोंमें सिक्कोंका जितना प्रचार होता है उतना वहां आलस्य और भोग विलासका प्रचार होता है; फलतः वहां मुख्य अर्थके उत्पादकोंकी संख्या कम होने लगती है, ग्रामोंमें उत्पादकोंको संख्या जितनी कम होती है, नगर उतने अपने धर्मसे च्युत होते हैं, नगरोंके स्वधर्म च्युत होनेसे समाजका अवपात होने लगता है। अपरञ्च ग्रामोंमें सिक्कोंका प्रचार होनेसे वहां अन्नादिका सरासर ह्रास होने लगता है वे बिलकुल खोखले हो जाते हैं।

(४) नगरोंमें क्रय विक्रय और विनिमय दोनोंका बराबर चलन होना—नगरोंमें कुछ लोग ऐसे भी रहते हैं, जो न तो मुख्य अर्थका उत्पादन करते हैं और न विनिमय प्रथाको ही काममें लासकते हैं, किन्तु समाजके लिये वे अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक होते हैं; अपरञ्च नगरोंमें अनेक काम ऐसे होते हैं कि जो विनिमय प्रथासे नहीं किए जाते हैं और वहां अनेक वस्तु भी ऐसी होती हैं कि जिनका लेनदेन विनिमय प्रथासे नहीं होसकता है; किन्तु उन कामोंका किया जाना और उन वस्तुओंका लेनदेन समाजके लिये बहुत आवश्यक होता है, अतः वैसे आवश्यक मनुष्योंके लिये, उन आवश्यक काम और वस्तुओंके लिये नगरोंमें दोनों प्रथाओंका चलन होना आवश्यक समझा जाता है।

(५) अन्तर्वाणिज्यमें केवल सिक्कोंका प्रचार होना—अन्तर्वाणिज्यमें विनिमय प्रथाको काममें लानेसे अधोलिखित हानियां होती हैं:—

(क) विनिमय प्रथाद्वारा वाणिज्य करने वाले देश आर्थिक रूपसे परस्पराधीन हो जाते हैं।

(ख) इस प्रकारके परस्पराधीन देशोंमेंसे एक देशमें आर्थिक सङ्कट होनेसे दूसरे देशोंमें भी आर्थिक सङ्कट हो जाता है; जैसा कि इस महायुद्धके कारण अनेक देशोंमें हुआ।

(ग) उक्त प्रकारके परस्पराधीन देशोंमें जो निर्बल होते हैं उनका आवश्यक और उपयोगी माल बाहर चला जाता है, और उसके बदलेमें उनको अनावश्यक और निरुपयोगी माल मिलता है; जैसा कि इन दिनों भारतको गेहूं और रुईके बदले जापानसे जीनताम और कागजकी कण्डीलें मिल रही हैं।

(घ) उक्त प्रकारके परस्पराधीन देशोंमें जो प्रबल होते हैं वे उस अर्थका उत्पादन छोड़ कर वैलासिक वस्तुओंका उत्पादन करने लगते हैं; उदाहरणार्थ फ्रान्स और इङ्गलिस्तान ।

(ङ) वाणिज्य क्षेत्रमें जो जाति अन्य जातियोंकी बराबरी नहीं कर सकती है विनियम प्रथाद्वारा वाणिज्यसे उनके प्रतिक्षण अर्थ सङ्कटमें पड़नेकी सम्भावना रहती है ।

(च) इस प्रकार परस्पराधीन देशोंमें जो प्रबल होता है वह निर्बलको अपनी रय्यत अथवा अपना मजदूर बना लेता है और आप भी भोग विलासोंमें पड़ कर नाशको प्राप्त होता है ।

(छ) जैसे समाजमें कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो अपनी कुरूप और निरुपयोगी वस्तुके बदलेमें लोगोंकी सुन्दर और उपयोगी वस्तुको ठग लेजाया करते हैं और वे ठगे हुए लोग उस वस्तुको दूसरोंके हाथ बेचते हैं और वे दूसरे उसको तीसरेके सिर मढ़ देते हैं, एवं क्रमात् समाजमें उस कुरूप और निरुपयोगी वस्तुका चलन होजाता है, और उसके बदले समाजकी सुन्दर और उपयोगी वस्तु चली जाती है, जैसा समाजमें व्यक्तियों द्वारा होता है संसारमें वैसा जातियां द्वारा होता है; जब अन्तर्जातीय वाणिज्यमें विनिमय होता है तो बाजे देशोंको उनकी सुन्दर आवश्यक और उपयोगी वस्तुके बदले भद्दी अनावश्यक और निरुपयोगी वस्तु मिलती हैं यथा भारतको उसके तांबे पीतलके बदले ऐल्युमिनम मिल रहा है ।

अन्तर्वाणिज्यकी उक्त खराबियां केवल तभी होती हैं कि जब विनिमय होता है। सिक्कोंके प्रचारसे वे खराबियां नहीं होती हैं; अतः अन्तर्वाणिज्यमें केवल सिक्कोंका प्रचार होना चाहिए ।

उक्त नियमोंके अनुसार विनिमय प्रथाको चलानेसे अधोलिखित आर्थिक और सामाजिक लाभ होते हैं:—

(१) मुख्य अर्थका उत्पादन न करनेवालोंका अथवा कोई उपयोगी काम न करनेवालोंका समाजमें निर्वाह होना कठिन हो जाता है; अतः समाजमें उत्पादकोंकी संख्या भोक्ताओंकी अपेक्षा सदा अधिक रहा करती है ।

(२) व्यक्तियोंका परस्पर उपकारी होनेसे समाजमें सदा ऐक्य और प्रेम रहा करता है ।

(३) समाजमें आलस्य और विलासिताका प्रवेश होने नहीं पाता है।

(४) झूठ और ठगी बहुत कम होने पाती है।

(५) समाजमें सदा आर्थिक स्वतन्त्रता बनी रहती है।

(६) विद्या और शास्त्रोंके योगक्षेमके लिये निमित्त अनुकूल रहा करते हैं।

(७) फलतः धर्मपालनमें आर्थिक अन्तराय नहीं पड़ने पाते हैं।

(३) अन्न प्राचुर्य्य—जब समाजमें अन्नका प्राचुर्य्य होता है तो लोगोंको द्रव्यकी बहुत आवश्यकता नहीं रहती है; अतः उसका बहुत गौरव नहीं होता है, अपरञ्च अन्न प्रशस्तिसे लोगोंका समस्त ध्यान आजीविकामें बंधने नहीं पाता, उनको धैर्य्य रहता है, स्वधर्मकी ओर देखनेका उनको यथेष्ट अवकाश मिल जाता है। हमारे आचार्य्योंके मतानुसार अन्न प्राचुर्य्यके अधोलिखित उपाय हैं:— (१) कृषि. (२) गोरक्षा, (३) वाणिज्य, (४) कृषीवलोंके जुट और हड़तालको न होने देना, (५) अपने देशको परान्नभोजी देशोंके लिये अन्नकी मराडी न होने देना।

जिस देशमें ये पांचों बातें होती हैं उससे माई अन्नपूर्णा सदा प्रसन्न रहती हैं; एककी भी कमी होनेसे अन्नकी बहुत कमी पड़ जाती है। अतः हमारे आचर्य्योंने इस कामके लिये जातिका चतुर्थांश अलग रख दिया जो वैश्य वर्णोंके नामसे कहा जाता है, वैश्योंके इस काममें सहोद्योगी होना राजाका परमधर्म समझा जाता था; राज्याभिषेकके समय राजासे इस उक्त धर्म पालनकी शपथ करवा लीजाती थी, इसी धर्मके कारण राजा विशांपतिके नामसे कहा जाता था। अतः अधोलिखित बातें विशांपतिका धर्म समझी जाती थीः—

(१) कृषिको अदेवमातृका और प्रचुर रखना—अर्थात् सिंचाईका ऐसा प्रबन्ध करना कि जिससे कृषिको वर्षाजलके भरोसे न रहना पड़े, और ऐसा प्रबन्ध करना कि जिससे लोगोंके पास इतनी भूमि रहे कि उससे आधी भूमिको कुछ समय तक अकृष्ट रख कर भी देशके लिये पर्याप्त अन्न होजाय। एक भूमिमें प्रतिवर्ष एकही फसल बोनेसे उसकी उत्पादन शक्ति कमहो जाती है; अतः भूमिकी उत्पादन शक्तिको कम न होने देनेके लिये कुछ समयके लिये उसको अकृष्ट रखना पड़ता है।

(२) मातृदाय प्रथाको बनाए रखना—अर्थात् अच्छी उपजाऊ भूमिको राजासे रङ्क तक समस्त गृहस्थ प्रजामें इस प्रकार विभक्त कर देना कि उस भूमिके अन्नसे

उनका निर्वाह होसके। इस प्रकार जन्मभूमि रूपी मातासे मिली हुई भूमि मातृदायिका कही जाती है; यह भूमि अदेय होती है अर्थात् इसका बय बक्सीस गिर्वी नीलाम कुछ नहीं हो सकता है, इस भूमिमें मनुष्यका स्वत्व तभी तक होता है कि जब तक वह गृहस्थाश्रममें रहता है, गृहस्थके त्यागने के दिनसे उसमें उसकी स्त्रीका स्वत्व होता है, स्त्रीके पश्चात् वह भूमि राज्यको लौट जाती है ताकि वह औरोंको दी जाय। अब इस प्रथाका नाम तक नहीं सुना जाता है।

(३) गोप्राचुर्य्यको बनाए रखना—यह बात सिद्ध है कि प्रत्येक गृहस्थीके पास दो चार दुधैली गाएं रहनेसे समाजमें कभी अच्छे भोजनकी कमी नहीं रह सकती है। जिस समाजमें ऐसा होता है उसमें एक विशेष प्रकारके आनन्द धैर्य्य और सामर्थ्य रहते हैं; अतः विशांपतिका यह धर्म होता था कि सदा ऐसे अनुकूल निमित्त उपस्थित रखे जांय कि जिनसे प्रत्येक घरमें कमसे कम दो चार गाएं सुख पूर्वक पाली जांय।

(४) गो को अगोष्ठमातिका बनाना—अर्थात् प्रत्येक ग्राम प्रत्येक नगरमें इतना गोचर रखना कि जिसकी घासको चरनेसे ही वहां की गायोंका पालन होसके, उनको घरमें घास देनेकी आवश्यकता न हो।

(५) गोहत्याको न होने देना—इस नियमसे गोकुलकी उत्तरोत्तर वृद्धिमें बाधा पड़ने नहीं पाती है; अतः गायें इतनी सस्ती रहती हैं कि प्रत्येक मनुष्य उनको अनायास खरीद सकता है। इसी सुन्दर नीतिके कारण हमारे देशमें गायें इतनी सस्ती रहती थीं कि हमारी समाजमें बात बातमें दो चार गोदान हो जाया करते थे, अब भी यह प्रथा कहीं कहीं प्रचलित है।

(६) चर्म व्यापारका न होने देना—बहुधा यह देखनेमें आता है कि चमड़ेके व्यापारका गोवृन्दमें बड़ा प्रभाव पड़ता है, ज्यों ज्यों चमड़ेका व्यौपार बढ़ता जाता है त्यों त्यों नित्य मारे जानेसे गायोंकी संख्या कम होती जाती है; अतः इस व्यापारको रोकना विशांपतिका धर्म समझा जाता था।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री हमारी अर्थशास्त्रकी गो रक्षासम्बन्धी नीति पर हंसते हैं और गोहत्या और चर्मव्यापारके पक्षम यह युक्ति देते हैं कि गायबैलोंकी इतनी उत्पत्ति होती है कि यदि वे सब रहने दिए जांय तो दशवर्षमें वे इतने बढ़ जाते हैं कि मनुष्योंकी खेतीके लिये स्थान नहीं रहता है, और बीस वर्षमें वे इतने अधिक हो जाते हैं कि उनसे मनुष्योंको दुःख होने लगता है; अतः गो हत्यासे मनुष्योंका हित होता है, न कि अहित। कहना पड़ता है कि उक्त

गणकों ने कदाचित यह बिचार नहीं किया कि उत्पत्तिसे एक ओर वृद्धि होती है तो प्राकृतिक मृत्यु द्वारा दूसरी ओर क्षय भी होता रहता है, गौ कि आयु बहुत नहीं होती है; अपरञ्च अनुभव उक्त गणकोंकी युक्ति पर विश्वास नहीं होने देता है, क्योंकि लाखों हजारों बर्षों तक हमारे देशमें गो हत्या और चर्म-व्यापार बन्द रहे, हमारी रिआसतोंमें ये बातें अब तक बन्द हैं किन्तु कभी इस भयानक अवस्थाका नाम तक न सुना गया। हिसाब फैलाकर यह भी देखा गया है कि मनुष्यको जितना लाभ एक गोके चमड़ेसे होता है उससे अधिक लाभ केवल उसके गोबरसे होता है, दूध, दही घीसे जो लाभ होता है उसका तो कहना ही क्या। समाजको गायके दूधसे जितना लाभ होता है उतना ही लाभ बैलके परिश्रमसे भी होता है।

(७) वाणिज्य रक्षा—हमारे दैशिकाचार्य्यके मतानुसार वाणिज्यका उद्देश्य है देशमें विविधकला कौशलोंकी वृद्धि करना, समाजकी आर्थिक स्वतन्त्रताका योगक्षेम करना; अतः इसके लिये यह आवश्यक है कि वाणिज्य अपरमात्रिक हो अर्थात् ऐसा हो कि जिसको क्रय विक्रयके लिये दूसरे देशोंके भरोसे रहना न पड़े; जो देश अपने मालकी आयव्ययके लिये दूसरे देशोंके भरोसे रहते हैं आर्थिक रूपसे वे स्वतन्त्र नहीं कहे जासकते हैं, प्रतिकूल नियमोंके उपस्थित होने पर उनकी दशा बहुत बिगड़ जाती है। उदाहरणार्थ मान लीजिये कि मानचेष्टर रुईके लिये मिश्र पर और गेहूंके लिये भारत पर निर्भर है, यदि दशान्तरसे कुछ वर्षों तक मिश्रमें रुईकी और भारतमें गेहूंकी खेती बिगड़ जाय तो मानचेष्टरकी जो दशा होगी वह अनुमान हो सकती है। इसके प्रतिपक्ष मानचेष्टर यदि मिश्रकी रुईके बदले अपने देशके ऊन पर और भारतके गेहूंके बदले अपने देशके जौ जई पर निर्भर रहे तो मिश्रमें रुईकी और भारतमें गेहूंकी फस्ल बिगड़ जाने पर मानचेष्टरका बाल बांका नहीं होसकता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अन्तर्जातीय वाणिज्य नहीं होना चाहिये; अन्तर्जातीय वाणिज्य केवल ऐसा होना चाहिये कि जिससे अपने देशका अतिरिक्त और उद्धर्त माल बाहर निकल जाय, न कि ऐसा कि अपना देश आर्थिक रूपसे दूसरे देशोंके आधीन हो जाय। अपने देशसे बाहर जानेवाला माल बहुत बढ़िया होना चाहिये ताकि अपने देश पर उन अन्य देशवालोंकी श्रद्धा और प्रेम होजाय। उक्त उद्देश्यसे जब वाणिज्यका दूसरा उद्देश्य होने लगे तो उसमें हस्तक्षेप करना आवश्यक होता है। वाणिज्यको उक्त उद्देश्यानुसार चलाना वाणिज्य रक्षा कहा जाता है।

(८) कृषीवलोंका जुठ और उनकी हड़ताल न होने देना—समाजमें कृषीवलोंका जुठ और हड़ताल सबसे अधिक अनर्थकारी होता है; यदि किसी समाजमें

कृषीवल आपसमें जुट करके अन्नके भावको सदा चढ़ाए रखें अथवा हड़ताल करके उसको बेचें ही नहीं तो समाजमें महा अनर्थ होसकता है; यदि समाज उनके जुट और हड़तालसे दबी रहै तो समाजमें सदा दुर्भिक्ष और विपर्य्यास बना रहता है, और यदि समाज उनको दबानेका यत्न करती है तो देशमें अशान्ति होजाती है, नित्य विप्लव हुआ करते हैं, किसीके शरीर सम्पत्तिकी कुशल नहीं रहती है; उभयतः समाज विपर्य्यस्त रहती है, सब पेटकी चिन्तामें व्याकुल रहते हैं, ऐसी अवस्थामें धर्मकी सुध किसीको नहीं रह सकती है। अतः कृषीबलोंके जुट और हड़तालको न होने देना विशांपतिका मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। किन्तु हमारे धर्मशास्त्रानुसार किसीसे कोई वस्तु बलात् बिकवाना अथवा उससे बलात् कोई काम करवाना नीति और लोकाचारके विरुद्ध समझा जाता है; अतः हमारे अर्थशास्त्रके अनुसार कृषीबलोंके जुट और हड़तालको न होने देनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है कुशूल पालन अर्थात् प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक नगरमें अन्नकी बड़ी बड़ी कोठियोंको रखना।

कुशूल अर्थात् अन्नकी कोठियां दो प्रकारकी होती हैंः—(१) राजकीय (सर्कारी); (२) श्रेष्ठीय (साहूकारोंकी)।

दोनों प्रकारके कुशूलोंका मुख्य आधार होता था अपनी भूमिमें उत्पन्न हुआ अन्न, न कि खरीदा हुआ अन्न; अतः राजकुशूलोंके पालनके लिये अन्न उत्पन्न करने वाली भूमिका कर अन्न रूपमें ही लिया जाता था और यह अन्न राजकुशूलोंमें सञ्चित किया जाता था, और शेष कर द्रव्य रूपमें लिये जाते थे। अन्न रूपमें लिया जानेवाला कर अच्छी और बुरी फसलके मध्यवर्ती परिमाणसे लिया जाता था, इसी प्रकार श्रेष्ठीय कुशूलोंमें भी अन्न जमा होता था। कुशूलोंका प्रयोजन होता था कृषीबलोंके जुट और हड़तालको न होने देना और अन्नको सस्ते भाव पर बेचना, न कि द्रव्य कमाना। जब कभी कृषीबल जुट करके अथवा हड़ताल द्वारा अन्नके भावको चढ़ाना चाहते थे तो कुशूलोंमें उसका भाव गिरा दिया जाता था; अतः कृषीबलोंको अपनी आवश्यकतासे अधिक अन्नको कमसे कम कुशूलोंके भाव पर बेचना पड़ता था। इन दिनों भी यह देखा जा रहा है कि हमारे भारतमें कई स्थान ऐसे हैं कि जहांके निवासी प्रायः सब कृषीबल हैं किन्तु कुशूल न होनेसे वहां अन्नका भाव सदा चढ़ा रहता है; इसके प्रतिपक्ष कई स्थान ऐसे हैं कि जहां खेती नहीं होती है किन्तु कुशूल होनेसे वहां अन्न सदा सस्ता मिलता है।

(२) अपने देशको परान्नभोजी देशोंके लिये अन्नकी मण्डी न होने देना—भिन्न भिन्न प्रकारके प्राकृतिक सन्निकर्षोंके कारण भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थ उत्पन्न हुआ करते हैं और तदनुसार वहांके लोगोंकी शारीरिक रचना भी

होती है; अतः मनुष्योंका अपने अपने देशमें उत्पन्न हुए पदार्थोंसे निर्वाह करना स्वभावानुकूल होता है; किन्तु मनुष्य इस नियमकी बहुधा उपेक्षा कर देते हैं जब कालक्रमसे उनके देशका अभ्युदय होने लगता है तो वे अपने देशमें उत्पन्न हुए पदार्थोंको छोड़कर दूसरे देशोंमें उत्पन्न हुए पदार्थोंका भोजन करना सीख लते हैं और उन देशोंको अपने लिये एक प्रकारकी अन्नकी मराडी बना लेते हैं; अतः उन मराडी रूप देशोंमें अन्नकी मांग बढ़ जानेसे अन्नकी कमी, और भावकी चढ़ती रहती है जिससे वहांके लोगोंके लिये सदा अन्न कष्ट रहा करता है; अतः अपने देशको पराान्नभोजी देशोंके लिये अन्नकी मराडी न होने देना आवश्यक समझा गया है। इसी प्रकार अपने देशके लिये दूसरे देशोंको भी अन्नकी मराडी नहीं बनाना चाहिये, इसके विपरीत काम करनेसे अपने देशको परान्नभोजी होनेका दुराभ्यास पड़ जाता है जिसके कारण अपने देशमें उत्पादकोंकी संख्या कम होजाती है और देशकी आर्थिक स्वतन्त्रता जाती रहती है।

अर्थको इस प्रकार वशमें रखनेसे धर्मके प्रत्यर्थी अर्थदोषोंका निवारण हो जाता है। अर्थायामके विषय हमारे अर्थशास्त्रमें बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु उसके विषय यहां इतनाही कह देना पर्याप्त समझा गया है।

प्लेटोके रिपब्लिक और अरिष्टोटलके पौलिटिक्समें भी अर्थायामकी कुछ छाय पाई जाती है।

प्लेटोके मतानुसार समाजमें अन्न-वस्त्र पर्याप्त होना चाहिये, अति दारिद्र्य और अति वैभव दोनों समाजके लिये अनर्थकारी होते हैं, द्रव्यका मान और प्रभाव होनेसे लोगोंको धन सञ्चय करनेकी बुरी लत पड़ जाती है; इस लतसे श्रेष्ठ समाजका निकृष्ट समाजमें, रिपब्लिकका टिरैनीमें, सज्जनोंका कुजनोंमें परिवर्तन हो जाता है; अतः धनका मान और प्रभाव न बढ़ने देना धर्म कहा जाता है।

अरिष्टोटलके मतानुसार व्यष्टि और समष्टि दोनोंके लिये अर्थ अत्यावश्यक वस्तु है; अतः प्राकृतिक उपायोंद्वारा अर्थोपार्जन करना अच्छी बात है, किन्तु प्राकृतिक उपायोंद्वारा अर्थोपार्जन में और अप्राकृतिक उपायोंद्वारा द्रव्योपार्जनमें बड़ा अन्तर है। द्रव्य बहुत आवश्यक वस्तु नहीं है। कुसीद और वाणिज्यद्वारा द्रव्योपार्जन करना अप्राकृतिक काम है। ठेकाबन्दी अर्थात् किसी पदार्थको बेचनेका अधिकार केवल नियत व्यक्तिका होना समाजके लिये अनर्थकारी होता है, ठेकाबन्दीसे द्रव्योपार्जन करनेवालोंको राज्यसे निकाल बाहर कर देना चाहिए, समाजकी आर्थिक अवस्था मध्यवर्तिनी ठीक होती है, समाजमें न तो भोजनआच्छादनका

दुःख होना चाहिए और न भोग बिलासोंकी तृष्णा होनी चाहिये। समाजकी उक्त प्रकारकी आर्थिक अवस्था रखना राज्यका मुख्य कर्तव्य होना चाहिये।

किन्तु वर्तमान पाश्चात्य दैशिक शास्त्रमें अर्थायामकी गन्ध तक नहीं पाई जाती है; उसमें "धनमर्जयध्वं धनमर्जयध्वम्" की धुन बंधी हुई है, ऐसी धुन कि जिसके प्रतापसे बड़े बड़े सम्राटोंकी जूतोंकी दुकानें खुलने लगी हैं, बड़े बड़े राज्योंमें जङ्गलकी घास लकड़ीका ठेका होने लगा है।

पूर्वापर अर्थ शास्त्रोंमें मतैक्य हो नहीं सकता है; कारण इसका यह है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र और हमारे अर्थशास्त्रके बीच अर्थके परिणामोंके विषय, कृत्रिम आवश्यकताके विषय, कष्टसाध्य आजीविकाके विषय, भोजनके विषय, परमात्रिक वाणिज्यके विषय, युद्धके विषय, परदेशोंके विषय, भविष्यकी भावनाके विषय, स्वतन्त्रताके विषय बड़ा मत भेद है:—

१ अर्थके परिणामके विषय—पाश्चात्योंके अनुसार अर्थकी उष्णतासे जातिको उत्तेजना मिलती है; किन्तु हमारे आचार्य्योंके अनुसार अनियन्त्रित अर्थसे जातिमें उत्तेजनाके बदले तामस आजाता है, जातिको उत्तेजना मिलती है चिति और विराटसे, न कि अर्थसे।

२ कृत्रिम आवश्यकताके विषय—पाश्चात्योंके अनुसार कृत्रिम आवश्यकताओंका बढ़ना अभ्युदयका चिह्न समझा जाता है; किन्तु हमारे आचार्य्योंके अनुसार आवश्यकताओंके बढ़नेसे परतन्त्रता बढ़ती है, और परतन्त्रताका बढ़ना अवपातका चिह्न समझा जाता है।

३ कष्टसाध्य आजीविकाके विषय—यूरपके मतानुसार आजीविकाके कष्टसाध्य होनेसे जातिमें कर्म्मण्यता उत्पन्न होती है; किन्तु प्राचीन भारतके अनुसार आजीविकाके कष्टसाध्य होनेसे जाति पेटपाल लोकायतिक और नीच प्रवृत्तिकहो जाती है।

४ भोजनके विषय—यूरपका भोजन बहुधा अस्वाभाविक और हमारा भोजन स्वाभाविक होता है, भोजनका अर्थशास्त्रसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः यह भी एक कारण है जिससे हम दोनोंके आर्थिक सिद्धान्तोंमें भेद होगया है।

५ परमात्रिक वाणिज्यके विषय—यूरपके अनुसार परमात्रिक वाणिज्यसे जातियोंके परस्पर आधीन होनेसे उनमें ऐक्य होता है; अतः उनमें युद्धकी सम्भावना नहीं रहती है; किन्तु प्राचीन भारतके अनुसार ऐसे वाणिज्यका परिणाम भयङ्कर होता है और प्रतिक्षण युद्धकी सम्भावना रहती है। अब तक

देखनेमें यही आता है कि परमान्त्रिक वाणिज्य ही संसारकी वर्त्तमान अशान्तिका मूल कारण है ।

६ युद्धके विषय—काराट आदि अनेक पाश्चात्य आचार्य्योंके मतानुसार एक दिन ऐसा आएगा कि संसारसे युद्धकी प्रथा उठ जायगी; किन्तु हमारे आचार्य्योंके मतानुसार जब तक संसार रहेगा तब तक युद्धकी प्रथा प्रचलित रहेगी ।

७ परदेशोंके विषय—यूरपके मतानुसार संसारके अन्य देश सदा उसके आधीन रहेंगे, उन आधीन देशोंसे उसको अन्न-वस्त्र सदा प्राप्त होता रहेगा; किन्तु भारतके मतानुसार आज जो देश स्वतन्त्र हैं कल उन्होंने परतन्त्र होना है और जो आज भोग्य हैं कल उन्होंने भोक्ता होना है; भारत के मतानुसार

" माटी कहै कुम्हार सों तू क्या रूंधे मोहि
एक दिन ऐसा आयगा मैं रूंधूंगी तोहि "

अतः यह आशा नहीं होसकती है कि किसी देशको परदेशोंसे अन्न-वस्त्र सदा प्राप्त होता रहेगा ।

८ भविष्यभावनाके भविष्य—पाश्चात्योंके अनुसार सदा शरद बनाही रहेगा कमल सदा खिलते रहेंगे, उनके देश सदा श्रीके प्रमोद कानन बनेही रहेंगे, अतः दुर्दिनोंकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता है, किन्तु हमारे आचार्य्योंके मतानुसार संसार परिवर्तनशील है, इसमें किसीके दिन सदा समान नहीं रहते हैं, भारत के अनुसार

" सदा न फूले तुरई, सदा न सावन होय "

अतः उनको सदा दुर्दिनोंका ध्यान बना रहता है ।

९ स्वतन्त्रताके विषय—पाश्चात्योंके अनुसार मनुष्यको शासनिक स्वतन्त्रतासे ही पूर्ण स्वतन्त्रता और केवल द्रव्यप्राचुर्य्यसे पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्तहो जाती है; किन्तु हमारे आचार्य्योंके मतानुसार शासनिक स्वतन्त्रता आर्थिक और स्वाभाविक स्वतन्त्रताओंका संयोग हुए बिना किसीको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती है और केवल द्रव्यप्राचुर्य्यसे किसीको आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहींहो सकती है ।

जो कुछ भी हो अब इस समय मान सर्वत्र पाश्चात्य अर्थशास्त्रकाही है, हमारे भारतमें भी इसका गौरव और पठन पाठन होने लगा । अब भारत अपने इस प्राचीन सिद्धान्तको भूलता जारहा है कि अग्निके समान अर्थ बड़ा उपयोगी

होता है, किन्तु इसका संयम न होनेसे वह अग्निके समान बड़ा अनर्थकारी भी होजाता है। इतनाही नहीं बरन अर्थायामको वह मूर्खता समझने लगा है। जागृतमानी भारतको अपनी वर्तमान शोचनीय आर्थिक अवस्थाके अधोलिखित कारण मालूम होने लगे हैं:—

१ योगियोंका बेकार पड़ा रहना और अपना भार गृहस्थोंपर डालना।

२ पर्वों, उत्सवों, संस्कार विधियोंमें धनका व्यय होना।

३ वाणिज्यकी उपेक्षा करके कृषिके पीछे लगा रहना।

४ गोकी बहुतायतसे कृषियोग्य भूमिका गोचरके लिए कट जाना।

५ जमा करने अथवा जेवर बनानेसे धनका संचार रुक जाना।

दासत्वके कारण जिस व्यक्ति अथवा जातिकी बुद्धि आक्रान्तहो जाती है उसमें विचार शक्ति नहीं रहती है, उसको हेत्वाभास और हेतुकी जांच नहीं होती है। अतः इन दिनों भारतके ऐसे विचार होना स्वाभाविक है।

इति दैशिक शास्त्रे विराडध्याये अर्थायामो
नाम तृतियाह्निकः

चतुर्थ आह्निक।

व्यवस्था धर्म।

विराट्के योगक्षेमके लिए वर्णाश्रमधर्म, अर्थायाम, देशकाल विभागक अतिरिक्त व्यवस्था धर्मकी भी आवश्यकता होती है। वर्णाश्रमधर्मसे मनुष्योंकी प्रत्यर्थी प्रवृत्तियों में समताकी धारणा होती है, अर्थयामसे अर्थका अभाव और प्रभाव दोनों नहीं होने पाते हैं, देशकाल विभागसे मनुष्योंकी चेष्टा और परिवर्तन-शील प्रकृतिके नियमोंमें ऐक्य होजाता है, व्यवस्था धर्मसे समाजमें स्वतन्त्रता और सहानुभूतिका ऐक्य रहता है। व्यवस्थाधर्म कहते किसे हैं ?

प्राचीन भारतके अनुसार व्यवस्थाधर्म कहते हैं उन नियमोंको जिनसे समाजका अभ्युदय और निःश्रेयस हो। ऐसे नियमोंकी पहिचान क्या ? कुनियमोंके चलानेवाले

भी यह कह सकते हैं कि उनके चलाए हुए नियमोंसे समाजका अभ्युदय और निश्रेयस होगा; अतः भगवान् मनुने व्यवस्थाधर्म कहे जानेवाले नियमोंका लक्षण कहा है लोगोंका सदाचारके साथ स्वहित साधन कर सकना; अतः जिस समाजमें अथवा जिस राज्यमें लोग असदाचारसे स्वहित साधन करते हों अथवा सदाचारसे स्वहित साधन न करसकते हों वह समाज अथवा वह राज्य व्यवस्थाधर्मसे शून्य समझा जाता है । कदाचित् व्यवस्थाधर्मकी इसी भावनाके कारण जर्मन आचार्य फ्रीड्रिक निज्शे हमारी मनुस्मृतिका मान करते हों ।

व्यवस्थाधर्मके तत्वको समझनेके लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यवस्थाधर्मका उद्देश्य है समाजमें स्वहित साधन और सदाचारका संयोग करना; किन्तु स्वहित साधन बिना स्वतन्त्रताके नहीं होसकता है और सदाचार बिना सहानुभूतिके नहीं होता है । अतः समाजके अभ्युदय और निश्रेयसके लिए यह आवश्यक है कि समाजमें स्वतन्त्रता और सहानुभूतिका ऐक्य किया जाय अर्थात समाजमें ऐसे नियमोंका प्रचार हो कि जिनसे सब मनुष्योंकी स्वतन्त्रताकी रक्षा हो, कोई किसीके स्वतन्त्रताका प्रतिघाती न हो, प्रत्येक मनुष्य अपनी शारीरिक और सामाजिक योग्यतानुसार समाजकी सेवा किया करै और उस सेवाके लिए उसको अपनेको पहिलेसेही योग्य बनाना पड़े । वे ही नियम हमारे धर्म शास्त्रमे व्यवस्थाधर्मके नामसे कहे जाते हैं, जिन नियमोंमें ये बातें नहीं होती है अथवा जिनमें इन बातोंमेंसे किसी एकमें भी बाधा पड़ती है वे व्यवस्थाधर्म नहीं कहे जाते हैं । जर्मन आचार्य काण्टका मत भी प्रायः ऐसाही है, उनके मतानुसार ऐसे सामाजिक नियम व्यवस्थाधर्म कहे जाते हैं कि जिनमें स्वतन्त्रताके नियमोंके अनुसार एक मनुष्यकी व्यक्तिगत इच्छाका संयोग दूसरे मनुष्यकी व्यक्तिगत इच्छासे किया जाता है ।

व्यवस्थाधर्म प्रेरकरूप और निवारक रूपसे दो प्रकारका होता है ।

प्रेरकरूप व्यवस्थाधर्म उसको कहते हैं कि जिससे लोगोंसे काम्य कर्म करवाए जाते है ।

निवारकरूप व्यवस्थाधर्म उसको कहते हैं कि जिससे लोग निषिद्ध कर्म करनेसे रोके जाते हैं ।

व्यवस्थाधर्मका प्रवर्तन क्रमशः चार प्रकारसे किया जाता है, विनयाधानसे, आदेश पत्रसे, प्रायश्चित्तसे, दण्डसे,

विनयाधानसे सब लोग ऐसे बनाए जाते थे कि वे व्यवस्थाधर्मको अच्छी तरह जानते थे और अपने आप आनन्दपूर्वक उसका पालन करते थे; जब कोई न जाननेसे उसका पालन नहीं करता था तो आदेश पत्रद्वारा उसकी भूल और

कर्तव्य उसको समझा दिए जाते थे, जब कोई कामक्रोधादिके कारण व्यवस्था धर्म का उल्लंघन करता था तो उससे प्रायश्चित् द्वारा शुद्धि करवायी जाती थी, जब कोई आग्रहपूर्वक उसका उल्लंघन करता था तो उसको दण्ड दिया जाता था। हमारे आचार्यों के मतानुसार व्यवस्थाधर्मका समुचित ज्ञान करवाए बिना, अथवा यह मान कर कि सब मनुष्य व्यवस्थाधर्मको अपने आप जानते हैं, अथवा भूलसे व्यवस्थाधर्मका उल्लंघन करनेवाले को दण्ड देना, अथवा प्रायश्चित्के स्थानमें दण्डको काममें लाना, अथवा अननुरूप दण्डका प्रयोग करना अधर्म समझा जाता है; दण्डसे प्रायश्चित् अनेकधा श्रेयस्कर समझा जाता था, क्योंकि प्रायश्चित्से मनुष्यका हृदय शुद्ध होजाता है जिससे उस पूर्व कृतापराधकी पुनरावृत्ति नहीं होती है; किन्तु दण्डसे तेजस्वी लोगोंमें क्रोधाग्नि भड़क उठती है जिससे उन पूर्व कृतापराधकी पुनरावृत्ति अथवा वृद्धि होने की अधिक संभावना रहती है।

व्यवस्थाधर्ममें सर्वत्र तीन बातें होती हैं:—(१) उद्देश अर्थात् वह प्रयोजन जिससे व्यवस्थाधर्मकी सृष्टि होती है, (२) उपनय अर्थात् वह मानी हुई बात जिसको लेकर व्यवस्थाधर्मका निर्माण होता है, (३) मूल अर्थात् वह पदार्थ जिससे व्यवस्थाधर्म की उत्पत्ति होती है।

हमारे व्यवस्थाधर्मका (१) उद्देश्य है स्वतन्त्रता और सहानुभूतिके संयोगद्वारा समाजका अभ्युदय और निश्रेयस् करना। उपनय उसका अर्थात् उसकी मानी हुए बाते ये है:—(क) विधिपूर्वक प्रचार हुए बिना किसीको व्यवस्थाधर्मका ज्ञान नहीं होसकता है, (ख) वास्तविक शुद्धि प्रायश्चित्से होती है न कि दण्डसे, (ग) अनाप्त मनुष्य सब स्खलनशील होते हैं। (३) मूल व्यवस्थाधर्मका है श्रुति।

इस प्रकारके उद्देश्य उपनय और मूलसे हमारे व्यवस्थाधर्म की यह विशेषता होगई है कि उसके नियम सदा बुद्धिसङ्गत, सरल, अल्पसंख्यक, विद्वद्विलासवर्जित, वस्तुमूलक, अपरिग्रही, विरलदण्ड, समदर्शी, आप्तोक्त और मूलानुसारी होते हैं; जिन नियमोंमें ये विशेषता नहीं होती हैं वे व्यवस्थाधर्म नहीं होसकते हैं क्योंकि:—

(१) समाजमें व्यवस्थाधर्मके अनुसार चलना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य होता है, शासकका कर्तव्य होता है व्यवस्थाधर्मका उल्लंघन करनेवालेसे प्रायश्चित् करवाना अथवा उसको दण्ड देना। किन्तु न जानी हुई बातके अनुसार कोई चल नहीं सकता है और अज्ञात बातके कारण दण्ड भोगना और देना दोनों अस्वाभाविक और अधर्म होते हैं; अतः सबको व्यवस्थाधर्मका ज्ञान होना आवश्यक होता है किन्तु जो नियम बुद्धिसङ्गत नहीं होते हैं अथवा जटिल

होते हैं उनका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यको नहीं होसकता है और न किसीकी उनमें श्रद्धा होती है; जो नियम बहुसंख्यक होते हैं उनमें न प्रत्येक मनुष्यकी गति होती है और न सबको उनकी स्मृति रहती है; अतः ऐसे दुर्गम और दुःस्मरणीय नियमोंसे समाज कभी सुपरिचित नहीं होसकती है; जिस बातमें विद्वद्विलास होता है वह साधारण बुद्धिवाले लोगोंकी समझसे बाहर होजाती है, जो बात अवस्तुमूलक होती है भली भांति उसका समझना तथा ग्रहण करना सारी समाजके लिए तो क्या विशेष व्यक्तिके लिए भी सम्भव नहीं होता है। जिन नियमों को लोग न जानते हैं, न उनसे परिचित होते हैं, न उनको समझते हैं, न उनमें श्रद्धा रखते हैं, न उनको ग्रहण करते हैं उन नियमोंके अनुसार वे चल नहीं सकते हैं। अतः ऐसे नियमोंके अनुसार लोगों को चलाने के लिए समाजमें दण्डद्वारा त्रास फैलाना पड़ता है, इस प्रकार त्राससे चलाए जाने वाले नियम आसुर नियम कहे जाते हैं, ऐसे नियमोंसे बनी हुई शान्ति क्षणभंगुर और अनर्थकारिणी होती है।

अपरंच बुद्धिसङ्गत और अवस्तुमूलक बातोंका अभ्यास होनेसे बुद्धि आक्रान्त और कुण्ठित होजाती है, विद्वद्विलास बहुधा वास्तविक उद्देश्यको गौणरूप देकर आप मुख्यरूप धारण कर लेता है, अज्ञात नियमोंका पालन करनेके कारण लाभ मिलनेसे अथवा उनका उल्लंघन करनेके कारण दण्ड मिलनेसे समाजमें उन अज्ञात नियमोंका खूब तोड़ मरोड़ हुआ करता है जिनके कारण समाजमें बुद्धि कौटिल्य उत्पन्न होजाता है।

व्यवस्थाधर्मके परिग्रही होनेसे अर्थात् उसके द्वारा उसके प्रवृर्तकको किसी प्रकारका लाभ होनेसे अथवा उसकी किसी प्रकारकी कामना सिद्धि होनेसे व्यवस्थाधर्म अपने उद्देश्यसे भ्रष्ट होकर व्यवसायमें परिणत होने लगता है, ऐसा होनेसे समाजमें व्यवस्थाधर्मके नामसे लूट खसोट हुआ करती है और अधर्मकी पताका फहराने लगती है।

व्यवस्थाधर्मके सतत दण्ड होनेमें लोगोंका स्वभावतः उसके प्रतिद्वेष होजाता है, अन्तमें राजा और प्रजामें वैमनस्य उत्पन्न होजाता है; अतः प्रतिक्षण राज्य विप्लवकी सम्भावना बनी रहती है।

समाजका अभ्युदय और निश्रेयस् करनेवाले, स्वतन्त्रता और सहानुभूतिका संयोग करनेवाले, सदाचारके साथ स्वहित साधन करनेवाले, नियमोंको बनाना किसी रागद्वेषयुक्त बुद्धिवाले मनुष्यका काम नहीं है; अतः हमारे धर्म शास्त्रानुसार यह काम तत्त्वदर्शी निष्काम अरण्यवासी ब्राह्मणोंके हाथमें रहता था न कि राजाके हाथमें; क्योंकि राजसी सन्निकर्षोंके कारण राजा अथवा उसके अधिकारी वर्गकी बुद्धिमें स्वार्थ और प्रमाद उत्पन्न होजाना स्वाभाविक होता है, जिससे

उनके स्खलनशील होने की बहुत सम्भावना रहती है; अतः व्यवस्थाधर्मकी रचनामें राजाका कुछ हस्ताक्षेप नहीं होता था, यदि कुछ व्यवस्थाधर्मकी रचना की अथवा उसके किसी सिद्धान्तकी व्याख्या करनेकी अथवा उसके कुछ नियमोंमें देशकालनिमित्तानुसार कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता होती थी तो यह काम श्रुति और धर्मके जाननेवाले तीन चार मनुष्योंकी सभा अथवा एक आप्तेक हाथमें होता था; कहा भी है

" चत्वारो वेदधर्मज्ञा पर्षत् त्रैविद्यमेववा ।
सा ब्रूते य हि स धर्मः स्यादेको वा धर्मवित्तमः ॥ "

रूमी परिडत सिसरोका मत भी प्रायः ऐसाही है, उनके मतानुसार व्यवस्था-धर्मकी रचना मानसिक और सामाजिक शास्त्रके ज्ञाता तत्त्वदर्शी लोगोंके हाथमें होनी चाहिए। भगवान मनुके अनुसार

" आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ "

अतः हमारे धर्मशास्त्रमें पूर्व निर्णय प्रमाण नहीं माना जाता है। फ्रांस जर्मनी आदि कई यूरपीय देशोंमें भी प्रायः ऐसाही होता है, केवल इङ्गलिस्थान अमेरिका और अर्वाचीन भारतमें नजीरोंको बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

हमारे व्यवस्थाधर्मकी उत्पत्ति है श्रुतिसे, श्रुति कहते हैं वेदको, वेद किसी एक मनुष्यके किसी विशेष समयमें बनाए हुए नहीं हैं, वे भिन्न भिन्न समयमें पृथक् पृथक् ऋषियोंके समाधिजन्य ज्ञानके संग्रह हैं, उस समाधिजन्य-ज्ञानके विषय सुनी हुई बातोंका वेदोंमें संग्रह होनेसे वे श्रुति अर्थात् सुनी हुई बात कहे जाते हैं, जब श्रुति बहुत बढ़गई और उसमें अनेक शास्त्र और अनन्त विद्याओंका संकुल होगया जिससे श्रुतिका समष्टिगत प्रचार होना असम्भव होगया, तो उसमेंसे भिन्न भिन्न विषयोंको बिन बिन कर पृथक् पृथक् शास्त्र निकाले गए। सब से अधिक और पहिली आवश्यकता हुई धर्मशास्त्रकी अर्थात् मनुष्यके प्रत्यर्थी भावों की साम्यकी धारणा करने वाले शास्त्रकी; अतः भगवान् मनुकी आज्ञानुसार श्रुतिसागरका मन्थन होना आरम्भ हुआ, उससे प्रथम रत्न जो प्राप्त हुआ वह मानव धर्मशास्त्र था, यह शास्त्र सूत्रबद्ध किया गया, सब इसको कण्ठस्थ करने लगे ताकि उनको इस शास्त्रकी स्मृति सदा बनी रहे, अतएव यह शास्त्र मनुस्मृतिके नामसे कहा जाने लगा। मनुस्मृतिमें अनेक धर्मोंकी मीमांसा किई गई, तत् पश्चात् मरीचि आदि अनेक ऋषियोंने मानवधर्मशास्त्र मे उपदेश किए हुए एक एक धर्मको लेकर अलग अलग स्मृतियां रचीं किसीने जाति धर्मपर, किसीने दैशिक धर्मपर, किसीने वर्णाश्रम धर्मपर, किसीने व्यवस्थाधर्मपर, किसीने आचारपर; वे

सब स्मृतियां सूत्र बद्ध थीं, कालान्तरमें इन सब स्मृतियोंका लोप होगया तो पण्डितोंने स्मृतिपरम्परासे प्राप्त हुई उन पूर्व स्मृतियोंकी छाया लेकर और कुछ सामयिक बातें अपनें मनसे जोड़कर उन पूर्व स्मृतियोंके नामसे श्लोकबद्ध स्मृतियोंकी रचना किई; पीछे बनी हुई इन श्लोकबद्ध स्मृतियोंमें मनुस्मृतिका सबसे अधिक गौरव है, मनुस्मृतिमें उक्त प्रकारकी पुनर रचना कई बार होचुकी है। अब उन पीछे बनी हुई श्लोकबद्ध स्मृतियोंमेंसे भी अनेकोंका लोप होगया है, इस समय केवल मनु याज्ञवल्क्य आदि इनीगिनी स्मृतियां देखनेमें आती हैं, समयने पल्टा न खाया तो थोड़े दिनोंमें इनका भी लोप होजायगा।

अब भारतरूपी गलमें (हिमश्रोतमें) दृश्य बिलकुल बदल गया है, अब उसके अनुपम शुभ्र भूमि भागों में प्रातः कालके सूर्य्य देवकी तिरछी किरणें पड़ी हुई नहीं हैं, अब उसमें नीहार उठ गया है, अब यहां व्यवस्थाधर्मका नाम, उसकी परिभाषा उसके लक्षण, उसका तत्त्व, उसका उद्देश्य, उपनय, मूल और विशेषता सब बदल गए हैं। अब यहां व्यवस्थाधर्मका नाम लौ (Law) अथवा कानून होगया है; लौ अथवा कानून कहते हैं शासकके हुक्मको; लक्षण उसका है समाज में उसका उल्लंघन न होसकना; अतः उसका तत्त्व है पौजेटिवन्यस (Positiveness) अर्थात् बलात पालन करवाए जानेकी शक्ति, उसको न माननेवालेको दण्ड दिया जाना; कानूनके इस तत्त्वका इन दिनों भारतमें इतना प्रचार है कि साधारण लोगों के अनुसार सभी सर्कारी हुक्म कानून समझे जाते हैं, साधारण लोगों के विचार और वकीलोंके विचारमें भेद केवल इस बातका है कि वकीलोंके मतानुसार कानून कहे जानेवाले सर्कारी हुक्म विधिविधानपूर्वक लैजिस्लेटिव कौन्सिलमें अर्थात् कानून बनानेवाली सभामें होकर निकले चाहिएं; किन्तु साधारण लोगोंके अनुसार ऐसी कोई आवश्यकता नहीं, आवश्यकता केवल इस बातकी है कि उस हुक्मका देनेवाला कोई सर्कारी आदमी होना चाहिए चाहे पतरौल पटवारीही क्यों न हो। वर्तमान कानूनोंका उद्देश्य है राज्य के हितका योगक्षेम करना, उपनय उसके हैं:—सब लोग कानूनोंको अपने आप जानते हैं अथवा एक बार अंग्रेजीमें लिखे हुए सर्कारी गज़टमें छप जानेसे सब लोग कानूनोंको जानजाते हैं, अतः कानूनोंका ज्ञान न होनेसे कोई दण्डसे मुक्त नहीं होसकता है, शुद्धिका एकमात्र उपाय है दण्ड; राजासे गलती नहीं होसकती है अर्थात् 'राजा करे सोन्याव', मूलमें इन कानोनोंके हैं रूमी धर्मशास्त्र किन्तु उनके धड़में पेवन चढ़ा हुआ है इङ्गालिस्तानके विचारोंक फिर भारत में गर्मीपाकर समय समयमें बात बातके लिए उनमें नई नई शाखारूप कानून बनते गए तदनन्तर उनमें प्रिवीकौन्सल और हायकोर्टों की

नजीरोंके पत्ते आते जाते हैं; अतः उनमें साधारण लोगोंकी, साधारण लोगोंकी तो क्या साधारण वकीलोंकी भी गति होना कठिन होगया है।

वर्तमान कानूनोंके ऐसे तत्त्व ऐसे उद्देश्य ऐसे उपनय ऐसी उत्पत्तिके कारण उनकी यह विशेषता होगई है कि वे बहुधा अबुद्धिसङ्गत, जटिल, बहुसंख्यक, विद्वद्विलासिक, अवस्तुमूलक, परिग्रही, सततदण्ड, असमदर्शी अनाप्तोक्त और पूर्वकृतानुसारी होते हैं। इन विशेषताओंके उदाहरण जहां तहां मिलते है यथाः—

१ जिस बन्धक पत्रमें अनेक साक्षियोंके हस्ताक्षर नहीं होते हैं उसका साधारण ऋणपत्र समझा जाना, चाहे उसमें बन्धक रखनेवाले और एक साक्षीके हस्ताक्षरहों और उस बन्धक पत्रकी रजिष्टरी भी होगई हो और चाहे बन्धक रखने वाला उसको स्वीकार भी करता हो।

२ किसी रुक्केका, जिसमें भूल अथवा न मिल सकनेके कारण एक आनेका टिकट न लगाहो, साक्षीमें न लिया जाना।

३ किसी साहूकारके, जो कार्य्य वशात् कहीं पर देश गयाहो किन्तु बिमारीके कारण वहा रुक गयाहो और इस बीच उसके ऋण पत्रोंकी मीआद चली गईहो, रुपयोंका दावा न होसकना।

४ उग्र आरकन्दी चरसके बदले मधुर चौगर्खा चरसको काममें लावेवालेको दण्ड दिया जाना।

५ अपनी गोशालामें परके हुए बाघको मङ्गनीमें बन्धूक लाकर मारनेवालेको आर्मस् ऐक्टके अनुसार दण्ड दिया जाना।

ऐसे और भी अनेक कानून हैं, जिन सबका यहां उल्लेख नहीं होसकता है किन्तु उन सबमें आर्मस् ऐक्ट और कानून मीआद ऐसे हैं जो वकीलोंके अतिरिक्त और किसीके समझने नहीं आसकते हैं।

इन ऐसे कानूनोंकी संख्या इतनी अधिक होगई है कि इसका अनुमान किसी अच्छे वकीलका पुस्तकालय देखनेसे होसकता है, उस पुस्तकागारको देखनेसे सबके मनमें एक बार यह विचार उठ जाता है कि जितने समय और जितने परिश्रमसे इन कानूनोंका जङ्गल छाना जाता है उतने समय और उतने परिश्रमसे मनुष्य कुछका कुछ होसकता है।

अंगरेजी कानूनशास्त्र के अनुसार न्याय दो प्रकारका समझाजाता है एक

प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) और दूसरा कानूनी न्याय (Legal Justice) और यह भी कहा जाता है कि सभ्य समाजमें कानूनी न्याय हुआ करता है; अतः इन दिनों न्यायालयोंमें विद्वद्विलासकी आवश्यकता बढ़ती जारही है।

ऐसे कानूनोंका समाजमें बिना दण्डका प्रयोग हुए प्रचार नहीं होसकता है; अतः वे बहुधा सततदण्ड होते हैं और जो दण्डात्मक नहीं समझे जाते हैं उनमें भी कहीं कहीं दण्डकी झलक दिखाई देती है; यथा स्टाम्प ऐक्ट।

इन कानूनोंकी रचना अथवा उनमें परिवर्तन होता है शासककी आज्ञासे अथवा उसकी प्रतिनिधि कानून बनानेवाली सभाद्वारा, अतः शासक कानूनोंसे श्रेष्ठ समझा जाता है, वह जो चाहे वह कर सकता है; जैसे कानून चाहे वैसे बना सकता है, जैसा चाहे उनमें परिवर्तन कर सकता है।

भारतमें इन कानूनोंकी उत्पत्ति हुई है अंग्रेजी राज्यसे. अंग्रेजी राज्यमें कानूनोंकी रचना होती है रूमी धर्मशास्त्रानुसार, रूमी धर्मशास्त्रमें शासककी मर्जी कानून समझी जाती है। कारण इसका यह है कि पहिले दिनोंमें जब रोममें रिपब्लिक राज्य था तो वहां सिनेटनामकी सभाद्वारा कानूनोंका मसविदा बनता था, उस मसविदे के विषय ट्रिब्यूनेट नामकी प्रजा प्रतिनिधि सभाकी सम्मति ली जाती थी, इम्पीरियम नामक अधिकारी मण्डलीद्वारा उन कानूनोंका प्रचार किया जाता था; किन्तु सिनेट और ट्रिब्यूनेटके सदस्य बहुधा निकम्मे कुटिल और स्वार्थ परायण लोग होते थे; सिनेटको प्रजा हितके योगक्षेमकी अपेक्षा अपने पद और अधिकारोंको बनाए रखनेका अधिक ध्यान रहता था, ट्रिब्यूनेट सिनेटकी हांमें हां मिला दिया करती थी, इम्पीरियम सदा उद्यद्दण्ड रहकर त्रास फैला दिया करती थी; सिनेट ट्रिब्यूनेट और इम्पीरियमकी ऐसी कार्य्यवाहीसे प्रजा खिन्न होगई, रोममें अशान्ति फैल गई, सिनेट डामाडोल होगई, रिपब्लिकका चलना कठिन होगया, निदान राज्य शैलीमें कुछ परिवर्तन किया गया, सल्ला नामक एक व्यक्ति कुछ समयके लिए रोमका डिक्टेटर अर्थात स्वतन्त्र अध्यक्ष बनाया गया, उसकी डिक्टेटरीमें सिनेट बहुत कुछ सम्हल गई, प्रजाके ऊपर सिनेटका डङ्का फिर बजने लगा; सरासर बिल स्वीकार होकर कानूनोंकी भरमार होने लगी, इन कानूनोंके कारण प्रजाके नाकमें दम आगया, एक एक पल उसको भारी होने लगा, फलतः रोमकी दशा सुधरनेके बदले अधिक बिगड़ गई। निदान तीन तेजस्वी पुरुष सिनेटके विरुद्ध खड़े होगए; इन महा पुरुषोंके नाम थे पौम्पियस ज्यूलियस क्रैसस, इन तीन बीरोंका गुट रोमके इतिहासमें प्रथम ट्रायम्वरेटके नामसे कहा जाता है, इस ट्रायम्वरेटके उद्योगसे ज्यूलियस् रोमका कौन्सल अर्थात् उपदेशक बनाया गया, ज्यूलियासके कौन्सल बनतेही सिनेटके बनाए हुए कानून सब रद्द किए जाने लगे,

सिनेट बिलकुल फीकी और निर्बल होगई। कालान्तरमें इन वीरोंमें फूट होगई वे आपसमें लड़ने लगे, मेसोपोतामियांमें क्रेमसका और मिश्रमें पौम्पियसका दीप निर्वाण होगया, रह गया केवल ज्यूलियस जो जन्मभरके लिए रोम साम्राज्यका डिक्टेटर बनाया गया, सिनेटके अधिकार एक एक करके ज्यूलियसको मिलने लगे, उसके बढ़ते हुए तेजके सामने सिनेट निस्तेज होगई, कानून रचनाके समय सिनेटकी बहुत कम परवाह कीजानेलगी, ज्यूलियस सीजर जैसा चाहता था वैसा कानून बना लेता था; अन्तमें उसके विरुद्ध भी षड़यन्त्र रचागया और एक दिन सिनेटके सभाभवनमें कुछ सर्दारोंके हाथसे सीजर मारा गया; उसके मारे जानेपर सिनेटको अपने गये हुए अधिकार फिर मिल गए; किन्तु रोम साम्राज्य रिपब्लिकन और सिजरियन दो दलोंमें विभक्त होगया, सिनेटका पक्षपाती दल रिपब्लिकन और सीजरका दल सिजरियन कहा जाने लगा; सिजरियन दलके नेता तीन मनुष्य थे सीजरका उत्तराधिकारी औक्टेवस और उसके दो मित्र अन्टोनियस और लिपिडस, इन तीन मनुष्योंने अपना एक जुट बना कर सीजरके मारनेवाले सर्दारोंसे बदला लेना चाहा, फिलिपीके मैदानमें इन दो दलोंमें बड़ा भारी युद्ध हुआ जिसमें रिपब्लिकन दल हारकर नष्टभ्रष्ट होगया। कानून बनानेका अधिकार सिनेटसे छिनकर फिर इन तीन व्यक्तियोंके हाथमें आगया, तदनन्तर पहिलेकी भांति इस जुटमें भी फूट होगई, लिपिडस और अरण्टोनियसको भाग्यने सहारा नहीं दिया वे जहांके तहां विलीन होगए औक्टेवसका प्रताप दिन प्रतिदिन बढ़ता गया, उसके सामने सिनेट और ट्रिब्यूनेटकी कान्ति मलिन होगई; किन्तु औक्टेवस बड़ा चतुर और दूरदर्शी था, उसने मौनार्की एकदम स्थापित करनेके बदले क्रमशः ऐसा करना उचित समझा; अतः उसने सिनेट और ट्रिब्यूनेट की सम्मति लेकर सेना समन्धी समस्त अधिकार अपने हाथमें ले लिए और ज्यूलियस सीजरके प्रतिपक्षी पुराने सर्दारोंको अपनेमें मिला लिया, तदनन्तर औक्टेवसने सिनेटका उपदेशकपद अपने आप छोड़ दिया जिसके बदलेमें सभोंने मिलकर उसको जन्मभरके लिए समस्त रोम साम्राज्यका ट्रिब्यून और प्रेटर बना दिया; ट्रिब्यून रूपमें कानूनोंका सूत्रपात औक्टेवसकी इच्छानुसार होने लगा, प्रेटर रूपमें उसकी इच्छानुसार सिनेटमें बिल पास होने लगे, सेनाधिपती रूपमें सबमें उसकी दहल बैठ गई, किसीको उसकी आज्ञाभङ्ग करनेका साहस नहीं होता था, अर्थात् औक्टेवस सीजर ट्रिब्यून रूपमें बिल तय्यार करता था प्रेटर रूपमें उसको स्वीकार करता था और सेनानी रूपमें उनका प्रचार करता था, क्रमशः औक्टेवस सीजरके सब आज्ञापत्र कानूनोंके बराबर समझे जाने लगे, कालान्तरमें इसका परिणाम यह हुआ कि रोममें शासकका हुक्म कानून माना जाने लगा, पौजेटिवन्यस (Positiveness) अर्थात् बलात् पालन करवाये जानेकी शक्ति कानूनका तत्त्व समझी जाने लगी; अर्थात् रोममें यह सिद्धान्त माना जाने लगा कि ' राजा करे सो न्याव '।

कानूनकी यह कल्पना उन समस्त देशोंमें फैल गई जिन्होंने रोमसे धर्म शास्त्र मे शिक्षा ली; अतः इङ्गलिस्तानमें भी कानूनकी यही कल्पना मानी जाती है, भारतमें इङ्गलिस्तानका राज्य होनेसे वहां यह कल्पना पूरे सोलह आने भर वरती जाती है।

भारतमें कानून बनानेके अधिकार राजाके प्रतिनिधि बड़े लाट और छोटे लाटोंको दिए रहते हैं; उनको काम बहुत होता है, अतः उनकी सहायताके लिए उनको एक एक कानून बनानेवाली सभा दी रहती हैं जिसको लैजिसलेटिव-कान्सल कहा करते हैं, किन्तु ये लैजिसलेटिव कौन्सलें रोमकी सिनेट अथवा इङ्गलिस्तानके हौस औफ लौर्डके समान नहीं होती है, वे बिलकुल बड़ेलाट अथवा छोटे लाटोंके आधीन होती है, इन कौन्सलोंको अपने अध्यक्ष बड़े लाट अथवा छोटे लाटकी इच्छानुसार कानून बनाने पड़ते हैं; जब कोई नया कानून बनता है अथवा पुराने कानूनमें कुछ परिवर्तन किया जाता है तो पहिले लैजिसलेटिव कौन्सलमें बिल अथवा मसविदा पेश होता है तब उस बिलपर वादानुवाद होता है अन्तमें अध्यक्षकी सम्मतिसे जो बात पक्की ठहरती है वह कानूनके रूपसे निकाली जाती है और तब वह सर्कारी गज़टमें छापी जाती है और यह मान लिया जाता है कि सब लोग उससे परिचित होगए हैं । इन लैजिसलेटिव कौन्सलोंमें कोई कोई हमारे लोग भी सदस्य बनाए जाते हैं किन्तु इन शोभापात्र सदस्यो से काम कुछ नहीं होसकता है, वे आज तक न कोई ऐसे कानून बनासके जिनको भारत बनाना चाहता है और न उनसे कोई ऐसे कानून रद्द होसके जिनको वह रद्द करना चाहता है, राजाके प्रतिनिधि जैसे कानूनोंका सूत्रपात करते हैं अथवा जैसा वे चाहते हैं वैसे कानून बनाए जाते हैं, हमारे सदस्य केवल ऐसे कानून बना सकते हैं कि जैसे विधवाविवाह सम्बन्धी, अन्त वर्णविवाह सम्बन्धी; शासन सम्बन्धी कानून रचनामें उनकी तूतीकी कुछ सुनाई नहीं होती हैं ।

अर्वाचीन भारतके कानूनोंकी मूलोत्पत्ति और उत्तर वृद्धिका दिङ्मात्र वर्णन होचुका है जिससे भली भांति यह समझमें आसकता है कि क्यों कर प्राचीन भारतके व्यवस्थाधर्म और अर्वाचीन भारतके कानूनोंमें इतना भेद होगया है। अब हमारा राज्य न रहनेसे हमारे व्यवस्थाधर्म का लोप होगया है। हमारे विराट् रूपी चन्द्रमाके अन्तर्धान होने पर ऐसा होनाही था क्योंकि

"शशिना सह याति कौमुदी
सह मेघेन तड़ित् प्रलीयते "।

इति दैशिक शास्त्रे विराडाध्याये व्यवस्थाधर्म पर्यालोचनोनाम
चतुर्थ आह्निकः ।

पञ्चम आह्निक

देशकाल-विभाग

संसारमें सब कुछ देशकालके अनुसार होता है, देशकालके अनुकूल होनेपर सब काम सिद्ध होते हैं, और उनके प्रतिकूल होनेपर सब काम नष्ट होते हैं; किन्तु देशकाल सदा बदलतेही रहते हैं, वे कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल होते हैं; अतः किसी कामको सिद्ध करनेके लिए अनुकूल देशकालसे लाभ उठाना और प्रतिकूल देशकालका प्रतिकार करना आवश्यक होता है, बिना ऐसा किए किसी कामकी सिद्धि नहीं होसकती है, जो काम प्रयागके गङ्गातट पर जेठके महिनेमें जिस प्रकार होता है वह मानसरोवरके तीर पर माघके महिनेमें उस प्रकार नहीं होसकता है; भगवती प्रकृतिके सब काम देशकाल विभागके अनुसारही हुआ करते हैं, विराट्के योगक्षेमके लिए भी गुणशास्त्रानुसार देश विभाग और ज्योतिषशास्त्रानुसार काल विभागका होना, और फिर उन देशकाल विभागोंके अनुसार शासन चर्य्याका होना आवश्यक होता है; बिना ऐसा हुए न विराट्का योगक्षेम होता है, न वर्णाश्रमधर्म निभ सकता है, न अर्थायाम होसकता है, शक्ति समय और अर्थका वृथा क्षय होता है ।

देशकाल विभाग और तदनुरूप चर्य्याके विषय हमारे आचार्योंने बहुत कुछ कह रखा है, हमारे गुणशास्त्र और ज्योतिषशास्त्रकी सृष्टि इसी लिए हुई थी. गुणशास्त्रका तो अब कहीं पता भी नहीं चलता है केवल वैद्यक निघंटु और योगकी टीकाओंमें उसका कुछ उल्लेख देखा जाता है, ज्योतिषशास्त्र अबतक कुछ वर्तमान है, किन्तु बिलकुल दूसरे रूपमें । इस पुस्तकमें देशकाल विभागके विषय दो एक बातें लिखी जाती है, स्थानाभावके कारण पूरा वर्णन नहीं होसकता है ।

हमारे आचार्योंके मतानुसार भिन्न भिन्न स्थानोंमें तत्वादि गुणोंकी भिन्न भिन्न प्रकारकी मात्रा होनेसे वहांका जलवायु और वहांके अन्नादि भी भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं, उसी जलवायु और उसी अन्नादिके अनुसार वहांके मनुष्योंके बुद्धि मन और शरीर भी होते हैं, बुद्धि मन शरीरके अनुसार काम करनेसे हित और तद्विपरीत काम करनेसे अहित होता है; अतः हमारे दैशिकाचार्योंने गुणशास्त्रके अनुसार सत्वादि गुणोंकी मात्राका विचार करके समस्त देशको अनेक आवर्तोंमें, प्रत्येक आवर्तको अनेक राष्ट्रोंमें, प्रत्येक राष्ट्रको पुरोंमें विभक्त किया, प्रत्येक पुर अनेक ग्रामोंसे घिरा रहता था । देशकी विशेषता चिति समझी जाती है और अधिष्ठाता उसके ऋषि होते थे, आवर्त की विशेषता अचार समझा जाता था और अधिष्ठाता उसके आचार्य होते थे, राष्ट्र की विशेषता

शास्त्रोंपर समझी जाती थी और अधिष्ठाता उसके विद्वान होते थे, पुर की विशेषता व्यवसाय समझा जाता था और अधिष्ठाता उसका व्यवसायी होता था, ग्रामकी विशेषता अर्थ होता था और उसके अधिष्ठाता अर्थोत्पादक होते थे। एक विभागकी विशेषतासे दूसरे विभागोंको लाभ पहुंचाना और उसकी न्यूनताको उसके सहवर्गियोंकी विशेषताओंसे पूरा करना राज्यका मुख्य कर्तव्य समझा जाता था।

अपने देशकी सीमाओंमें जो राष्ट्र होते थे वे इतने शक्तिशाली होते थे कि जो अपने सन्निहित पर राष्ट्रको युद्धमें अकेले अनायास पराजित कर सकें, परन्तु तौभी जब कभी किसी स्वराष्ट्रका किसी परराष्ट्रसे युद्ध छिड़ता था तो वह युद्ध समस्त देशका समझा जाता था, सब राष्ट्र अपनी अपनी शक्तिको लेकर उस युद्धमें सम्मिलित होते थे। जबसे हमारे राष्ट्रोंको देशधर्मको त्याग कर अपनी अपनी टोपी बचाए रखनेकी सूझने लगी तभीसे भारतका अवपात होने लगा।

राष्ट्र अनेक प्रकारके होते थे कोई बड़े और कोई छोटे, बड़े राष्ट्रोंकी पुरसंख्याके विषय कोई नियम नहीं है किन्तु सबसे छोटे राष्ट्रमें चार पुर होते थे, प्रत्येक राष्ट्रके मध्यमें एक पुर होता था जो राष्ट्रनिधि अथवा राज्याधिष्टान कहा जाता था राष्ट्रनिधिके चारों ओर अन्य पुर होते थे, एक पुर दूसरे पुरसे कमसे कम बारह गव्यूति प्रायः अड़तालीस मील की दूरी पर होता था और अधिकसे अधिक चौबीस गव्यूतिकी दूरी पर होता था; पुरकी जन संख्या कमसे कम दस सहस्र और अधिकसे अधिक पांच लाख होती थी; प्रत्येक पुर बीच बीचमें आपणोंमें विभक्त होता था; एक आपण दूसरे आपणसे इतनी दूरी पर होता था कि जितनी उन दो सन्निहित आपणोंकी लम्बाई होती थी, एक आपणमें प्रायः एक सौ घर होते थे, आपणोंमें सब घर बहुधा एकही कतारमें कभी कभी दो कतारोंमें भी बने होते थे, वे सब घर बराबर ऊंचाईके बने होते थे, प्रत्येक घरके अङ्गनकी चौड़ाई उस घरकी ऊंचाईसे दोगुनी होती थी। घरके सामनेकी भूमि अङ्गन कही जाती है। प्रत्येक पुरके बाहर चारों ओर बनभूमि होती थी जो कमसे कम इतनी होती थी कि जिसमें उस पुरके लोगोंके लिए ईंधन, उनकी संख्यासे दूनी गायोंके लिए घास, उस पुरकी जन संख्याके चतुर्थांश लोगोंके लिए अर्थात् वहांके ब्रह्म-चारी और वानप्रस्थोंके लिए आश्रम होसके; यह बनभूमि अकर होती थी, इसमें किसी प्रकारका कर नहीं लगया जाता था, बरन राज्य कोषसे इसकी रक्षाके लिए द्रव्य व्यय किया जाता था, इस अकर भूमिके साथ कृषि बाटिका उपवन इत्यादिके लिए इतनीही सकर भूमि रखी जाती थी, यह भूमि पुर और अकर भूमिके बीच होती थी।

इन सकर और अकर भूमियों के बाहर पुरके चारों ओर ग्राम बसे हुए होते थे, ग्राम की जनसंख्या कम से कम एक सौ और अधिक से अधिक एक सहस्त्र होती थी; एक ग्राम दूसरे ग्रामसे कम से कम आधी गव्यूति और अधिक से अधिक दो गव्यूति की दूरी पर होता था, जिस हिसाब से पुर के लिए अकर और सकर भूमि रखी जाती थी उससे दूने और तिगुने हिसाब से ग्रामों के लिए भी रखी जाती थीं।

पुर और ग्रामों की उद्वर्त जनता के लिए दूसरे पुर और दूसरे ग्राम बनाए जाते थे।

प्रत्येक आवर्त, प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक पुर, और प्रत्येक ग्राम की अवस्था ऐसी होती थी कि आर्थिक रूप से वह किसी दूसरे का आधीन नहीं होता था, प्रत्येक स्थानके आवश्यकतानुसार सब प्रकार के विद्वान सब प्रकारके शिल्पी सब प्रकार के व्यवसायी वर्तमान रहते थे, प्रत्येक स्थान में व्यापार का यह नियम होता था कि उसका अतिप्रयोजन विप्रयोजन और निष्प्रयोजन माल अर्थात् ऐसा माल कि जो प्रयोजन से अधिक हो, जिसका प्रयोजन न रहा हो, और जिसका कभी प्रयोजन न हो निकाल कर ऐसे स्थान में लेजाया जाय कि जहां उसका प्रयोजन हो; किन्तु कभी ऐसा व्यापार होने नहीं दिया जाता था कि जिससे वहां के अन्नादि आवश्यक पदार्थ झाड़ पोछ कर बाहर लेजाए जांय और वहां से निकम्मी चीजें लाकर घर में भर दी जांय; न किसी स्थान मे ऐसा व्यापार होने दिया जाता था कि जिससे वह स्थान दूसरे स्थान के आधीन होने लगे।

व्यष्टिगत सुख समृद्धि के लिए प्रत्येक स्थान आर्थिक रूप से स्वतन्त्र रखा जाता था, किन्तु समष्टिगत सुख समृद्धि के लिए सब स्थान दैशिक रूपसे परस्पर परतन्त्र रखे जाते थे और वे सब एक परिष्कृतिरूपी सूत्र में गुथे रहते थे।

देश के विभक्त हुए अङ्गों को एक सूत्र में गुथने के हमारे आचार्योंने अनेक उपाय कहे हैं जिनमें से कुछ अधोलिखित हैं:—

१ देश में एक सम्राट् का होना, सम्राट्पदका अन्वयागत न होकर गुणोत्कर्षानुसारी होना अर्थात् जिस राष्ट्र का शासक राष्ट्र वर्द्धक सिद्ध होकर देश वर्द्धक समझा जाय उसका राजसूय यज्ञ और सामराज्याभिषेक के योग्य समझा जाना। राष्ट्र वर्द्धन सिद्ध होने के लिए राजा में अधोलिखित गुण होने चाहिएं:— प्रजानुराग और क्षत्रबल। इनमें से केवल एक के होने से कोई राजा राष्ट्रवर्द्धक नहीं समझा जाता था; अतएव शिशुपाल जरासन्ध आदि राजसूय यज्ञ न कर सके।

(२) साम्राज्य में देश के समस्त महारथियोंका, महापुरुषोंका, दैशिकाचार्योंका, बड़े बड़े विद्वानोंका, कुछ न कुछ ऐश्वर्य बना रहना।

(३) समस्त राष्ट्रोंका साम्राट्का अनुवर्ती होना अर्थात् जातीय और दैशिक विषयों में राष्ट्रपतियों की एक सभा होना और उसका अध्यक्ष सम्राट्का होना।

(४) ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और सन्यासियोंका समस्त देश में अपना ही समझा जाना और उन्होंने भी किसी एक स्थान में ममता न करके समस्त देश को अपना ही समझना।

(५) प्रत्येक राष्ट्र में एक जातीय तीर्थ होना उसमें किसी राष्ट्र का अधिकार न होना किन्तु उसमें समस्त देश का स्वत्व होना।

(६) कमसे कम एक बार सब लोगोंने तीर्थाटन करना

(७) परिव्राजकों ने अपने देश में सदा भ्रमण करके जातीय भावों को बनाए रखना

(८) किसी नियत पर्वपर किसी एक नियत तीर्थ स्थानमें जातीय धर्ममीमांसा का होना और उसमें समस्त राष्ट्रों के आचार्यादिओंका सम्मिलित होना। इस प्रकार के बड़े पर्वोंका आवर्तों में घूमते रहना, ऐसे पर्वों में अब केवल कुम्भी पर्व रह गया है।

(९) जातीय मन्त्र अथवा प्रार्थनाका और जातीय संस्कारादिकोंका एक संस्कृत भाषा में होना।

(१०) समस्त देशमें एक ही प्रकार की व्यवस्था और एक ही प्रकारका आचार व्यवहार होना। जातीय पर्वों और उत्सवों का सर्वत्र मनाया जाना।

जैसे भिन्न भिन्न स्थान में भिन्न भिन्न प्रकार के निमित्त होते हैं एवं भिन्न भिन्न समय में भी भिन्न भिन्न प्रकार के निमित्त उपस्थित हो जाते हैं, ये निमित्त बिना प्रयोजन के नहीं होते हैं; भगवती प्रकृतिका कोई काम बिना क्रम और बिना प्रयोजन के नहीं होता है, जो बात सदा और सर्वत्र एक ही नियम से होती है उसको क्रम कहते हैं। किन्तु संसार में प्रतिदिन अनेक घटनाएं ऐसी भी होती हैं जिनमें क्रम नहीं मालूम पड़ता है, जैसे कि जिन कामों से किसी

व्यक्ति अथवा जातिका उदय होता है कालान्तर में उन्ही कामों से उस व्यक्ति अथवा उस जातिका अवपात होने लगता है; किन्तु वास्तव में यह अक्रमता आभास मात्र होती है; क्योंकि जब अनेक कारणोंका संयोग होता है तब एक कार्य्य उत्पन्न होता है, किन्तु जिन अनेक कारणोंका संयोग एक बार हो जाता बार बार उन कारणोंका संयोग नहीं होता है; क्योंकि पृथ्वी के आन्तरीक्षिक और खागोलिक स्थिति में सदा परिवर्तन होते रहने के कारण पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों के सन्निकर्षोंमें भी परिवर्तन होता रहता है, इन्ही सन्निकर्ष भेदों से कारण सन्निपात में भी भेद होता रहता है।

हमारे ज्योतिष शास्त्र के अनुसार आकाश अनन्त है, इसके भिन्न भिन्न भागों में सत्वादि गुणों की मात्रा भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती है, जिनके बीच में होकर पृथ्वी को जाना पड़ता है, पृथ्वी की यह गति आन्तरीक्षिक गति कही जाती है। इस अनन्त आकाश में अनन्त प्रकार के नक्षत्रतारा ग्रह भिन्न भिन्न गति से घूमते रहते हैं जिनके बीच में होकर पृथ्वी को जाना पड़ता है, पृथ्वी की यह गति खागोलिक गति कही जाती है। इस गति के कारण पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है; यथा मङ्गल के उदय से पृथ्वी की ओर तेज की उष्ण धाराएं चलने लगती हैं जिनके कारण वाष्प घनीभूत होने नहीं पाता है, शुक्र के उदय होने से पृथ्वी शीतल होने लगती है; अतः बाष्प घनीभूत होकर बरसने लगता है; अब प्रश्न यह उठता है कि मङ्गल के उदय होने पर सदा सूखा क्यों नहीं पड़ता है और शुक्र के उदय होने पर सदा वर्षा क्यों नहीं होती है, समाधान इसका यह है कि भिन्न भिन्न ग्रहों से निकलने वाली भिन्न भिन्न प्रकार की धाराओं के मिलने से जो उदर्क धारा रहती है उसी के अनुसार सूखा अथवा वर्षा होती है; अतः मङ्गल के उदय से न सदा सूखा पड़ता है और न शुक्रोदय से सदा वर्षा होती है। पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गतियों में सदा परिवर्तन होते रहने के कारण उसके भिन्न भिन्न भागों में भी सदा परिवर्तन होता है जिसके कारण वहां भिन्न भिन्न प्रकार के सन्निकर्ष होते रहते हैं; जहां जैसे सन्निकर्ष होते हैं वहां वैसे स्थावर जङ्गमों की सृष्टि वैसी उनकी अवस्था वैसी वहां के मनुष्योंकी बुद्धि प्रकृति और चेष्टाएं हुआ करती हैं, और इन्ही सन्निकर्षोंके अनुसार वहां के धनधान्य और प्राणियोंकी उत्पत्ति भी न्यूनाधिक हुआ करती है, इन्ही सन्निकर्षोंके कारण भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार के कारण उपस्थित हुआ करते हैं जिनसे पृथक् पृथक् प्रकार के कार्य्य हुआ करते हैं।

अब यह बात समझमें आसकती है कि पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गतियोंका और उनके प्रभाव का ज्ञान होनेसे भविष्य का बहुत

कुछ अनुमान पहिले से ही हो सकता है जिससे थोड़ा बहुत अनागत विधान अर्थात् पहिले से उपाय कर लिया जासकता है, अतएव पूर्व कालमें बड़े बड़े मानमन्दिर बड़ी बड़ी वेधशालाएं स्थापित करना और गुणशास्त्र और ज्योतिष शास्त्रके अच्छे विद्वानों को रखना राज्य का धर्म समझा जाता था। इस प्रकार पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गति का ज्ञान पहिले से हो जाने से अर्थायाम में बड़ी सहायता होती है, आवश्यकतासे अधिक होने वाले अर्थ की निकासीका और आवश्यकतासे कम होने वाले अर्थ की पुरोती का उपाय पहिले सोच लिया जाता था।

अपरंच हमारे आचार्योंके मतानुसार काल विभागानुसार चर्य्या और नियम पूर्वक रहने से मनुष्यके मन बुद्धि शरीर ठीक रहते हैं जिससे स्वधर्म पालन करने में बड़ी सहायता मिलती है।

पूर्व कालमें आचार्य्य लोग गुणशास्त्र आर ज्योतिषशास्त्रोंके बलसे वर्ष फल की सूचना बहुत पहिले दे दिया करते थे। इस प्रथा का स्वाङ्ग नष्ट भ्रष्ट रूप से अब तक हुआ करता है। प्रति सम्वत्सर प्रतिपदा को प्रत्येक घरमें सम्वत्सर फल अर्थात् उस वर्ष में होने वाले ग्रहों की स्थिति का पृथ्वी की आन्तरीक्षिक और खागोलिक गतियों का और उन के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के स्थावर जङ्गमों की उत्पत्ति में न्यूनाधिक का और मनुष्यों की मानसिक और शारीरिक चेष्टाओंका वर्णन सुनाया जाता है।

इति दैशिक शास्त्रे विराडध्याये देशकालविभागो
नाम चतुर्थाह्निकः।

दैवीसम्पद्योगक्षेमाध्यायः ।

प्रथम आह्निक

अधिजनन

राज्य और समाज को श्रेष्ठ बनाना, अर्थायाम करना, धर्मसङ्गत व्यवस्था की रचना करना, यथायोग्य देशकाल विभाग करना आहारनिद्रामैथुन के लिये काम में लगे रहने वाले भय से दबने वाले लोभ से लचने वाले लोकायतिक लोगों का काम नहीं है, यह है श्रेष्ठ पुरुषरत्नों का काम। श्रेष्ठ कामों के लिये श्रेष्ठ पुरुषों की आवश्यकता होती है। श्रेष्ठता पुस्तकों को रटने से प्राप्त नहीं होती है, यह प्राप्त होती है दैवीसम्पद् से। यूनान में दैवीसम्पद् न होने से ही प्लेटो को अपनी रिपब्लिक अपने समय में असम्भव जान पड़ी, इसीके न होने से अरिष्टोटल के दैशिक विचार कार्य में परिणत न हो सके; इसीके अभाव के कारण इङ्गलिस्तान को टोमस मूरका 'यूटोपिया' (Utopia) असम्भव जान पड़ा इसीकी न्यूनता के कारण यूरप में सोश्यालिज्म दोलाचल हो रहा है। आचार्य्य प्लेटो के मतानुसार श्रेष्ठ राज्य तभी हो सकता है जब राज्य का उत्तराधिकारी तत्त्वदर्शी हो, आचार्य्य अरस्तू के मतानुसार किसी समाज के श्रेष्ठ होने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें कुछ श्रेष्ठ मनुष्य हों, किन्तु हमारे आचार्य्यों के मतानुसार केवल राज्यके उत्तराधिकारी के तत्वदर्शी होनेसे न राज्य श्रेष्ठ हो सकता है और न इनेगिने मनुष्यों के श्रेष्ठ होने से समाज श्रेष्ठ हो सकती है। राज्य के श्रेष्ठ होने के लिये समस्त राजकुल और समस्त अधिकारियों का तत्वदर्शी होना और समाज के श्रेष्ठ होने के लिये समस्त लोगों का श्रेष्ठ होना आवश्यक होता है।

अब विचारास्पद यह है कि छोटा यूनान राज्य के एक उत्तराधिकारी और समाज के इनेगिने लोगों को जैसा नहीं बना सका, विशाल भारत समस्त राजकुल और समस्त प्रजा को वैसा कैसे बना सका?

यूरोप को यह अब तक विदित न था और न अबी भी पूर्णतया विदित है कि तत्त्वदर्शी राजा और श्रेष्ठ लोग अर्थात् दैवीसम्पद्युक्त मनुष्य कैसे बनाए जासकते है। उसके मतानुसार मनुष्यों को दैवीसम्पद्युक्त बनाने का एकमात्र मुख्य उपाय है उनको सुपठित बनाना। किन्तु हमारे आचार्य्यों के मतानुसार केवल पढ़ने लिखने से कुछ नहीं होता, यह तो एक कलामात्र है। स्वाती के

बूंद के समान जैसे पात्र से इसका सङ्गम होता है वैसा इसका फल होता है, श्रेष्ठ पुरुष में जाने से यह कला अच्छे काम में लाई जाती है मध्यम पुरुष में जाने से फल भी इसका मध्यम होता है और नीच पुरुष के सङ्ग से इसका फल नीच होता है। स्वाध्याय से केवल पढ़ने के समय मनुष्य के मन में दैवीसम्पद् प्राप्त करने की इच्छा होती है; किन्तु इच्छा तब ही फलीभूत होती है जब मानसिक और शारीरिक रचना अनुकूल हो, शास्त्रपाठ जिनका एकमात्र गुण होता है किन्तु जिनके शारीरिक और मानसिक संस्कार अनुकूल नहीं होते हैं उनकी श्रेष्ठ कार्यों को करने की चेष्टा विडम्बनामात्र होती है, तोता और मैनाओं से दैशिक और सामाजिक काम नहीं सध सकते हैं, इन कार्यों के लिये चाहिये वीरपुरुष रत्न जिनके संस्कार आजन्म और मरणपर्यन्त दैवीसम्पद्मय होते हैं।

हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार मनुष्य संस्कारमय होता है अर्थात् जैसे उसके संस्कार होते हैं वैसा वह आप होता है, इनसे वह लेशमात्र भी न्यूनाधिक नहीं होता है। संस्कार चार प्रकार के होते हैं:—

(१) जन्मान्तर (२) सहज (३) कृत्रिम (४) अन्वयागत।

जन्मान्तर संस्कार उनको कहते हैं जिनको लेकर शरीरी एक शरीरको त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, इन्हीं संस्कारों के अनुसार वह लोकान्तर में जाकर अपने कृतों का भोग करता है वहां उसके कर्मों का भोग हो चुकने पर वह फिर उन्हीं संस्कारो के अनुसार अमैथुनिक तन्मात्रिक शरीर को धारण करता है, तदनु अनुकूल निमित्त और सन्निकर्षों के मिलनेपर वह किसी शरीरी के शरीर में प्रवेश करके बिन्दुमय शरीर धारण करता है जहां वह कुछ नवीन संस्कारों को प्राप्त करता है, तदनन्तर रज से उसका संयोग होने पर उसको कुछ और नवीन संस्कार प्राप्त होते हैं; इन्हीं तीन संस्कारों को लेकर वह इस संसारमें जन्म लेता है, और प्रतिक्षण नए नए संस्कारों को प्राप्त करता जाता है, इन्हीं सब संस्कारोंके अनुसार उसके मन बुद्धि और कर्म हुआ करते हैं। इन सब संस्कारों में जन्मान्तर संस्कार प्रबल होते हैं जो अनेक जन्मों तक शरीरी के साथ लगे रहते हैं इनका नाश अथवा परिवर्तन केवल निर्विकल्प समाधिके और किसी प्रकार नहीं हो सकता है इन संस्कारों के विषय पाश्चात्य बायालोजिष्ट अभी पूर्ण अनभिज्ञ हैं।

सहज संस्कार उन संस्कारों को कहते है जो तन्मात्रिक शरीर को बिन्द्ववस्था और गर्भावस्था में प्राप्त होते हैं और उस पाञ्चभौतिक शरीर के छूटने तक रहते हैं ये संस्कार अनेक रूपमें प्रकट होते हैं उनमें तीन रूप अर्थात् योनिसंस्कार जातिसंस्कार और वर्णसंस्कार मुख्य माने जाते हैं।

जिन सहज संस्कारों में योनि की विशेषता रहती है उनको योनिसंस्कार कहते हैं।

जिन सहज संस्कारों में जाति की विशेषता रहती है उनको जाति संस्कार कहते हैं।

जिन सहज संस्कारों में वर्ण की विशेषता रहती है उनको वर्ण संस्कार कहते हैं।

गोभी और लाई के बीज रूपरङ्ग में एक समान होते हैं, किन्तु जब वृक्षरूप में उनका रूपान्तर होने लगता है तो उनके सहजसंस्कारों के पृथक् पृथक् होने के कारण वे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। मनुष्य और पशु के बिन्दु भी प्रायः एक समान होते हैं किन्तु जब गर्भावस्था में उनकी उत्तरवृद्धि होने लगती है तो सहजसंस्कारों की भिन्नता के कारण वे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। एक गमले में एक ही प्रकार की मट्टी में भिन्न भिन्न रङ्गों की सेवतियों के बीज एक साथ बोए जांय और साथ ही उनकी सिंचाई इत्यादि भी की जाय तो उनके पौंध भी एक ही प्रकार के होते हैं किन्तु उनके सहज संस्कारों के भेद के कारण उनके फूल एक दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार दो मनुष्यों के दो बालक एक ही स्थान में एक ही सन्निकर्षों में रखे और पाले जांय तो सयाने होने पर उनके सहज संस्कारों की भिन्नता के कारण उनमें भिन्न प्रकार के गुण दिखाई देने लगते हैं। ऐसे और भी अनेक प्रकार के भेद देखे जाते हैं, उन सब के कारण सहज संस्कार होते हैं; ये संस्कार भी समाधि के अतिरिक्त और किसी प्रकार नष्ट अथवा परिवर्तित नहीं किये जासकते हैं।

कृत्रिम संस्कार उन संस्कारों के कहते है जो बाह्यभ्यान्तरिक सन्निकर्षों के कारण अथवा दीर्घाभ्यास के कारण उत्पन्न होते हैं।

सन्निकर्षों से उत्पन्न हुए कृत्रिम संस्कारों को सन्निकर्ष संस्कार कहते हैं।

अभ्यास से उत्पन्न हुए कृत्रिम संस्कारों को अभ्यास संस्कार कहते हैं।

भिन्न भिन्न गमलों में भिन्न भिन्न प्रकार की मट्टी में भिन्न भिन्न प्रकार से बोये हुए और भिन्न भिन्न प्रकार की खाद और सिंचाई दिये हुए एक ही सेवती के बीजों से उत्पन्न हुए पौधों और उनके फूलों में जो भेद देखने में आता है अथवा एक ही मनुष्य के दो यमज बालकों में भिन्न भिन्न सन्निकर्षों में भिन्न प्रकार से रखे और पाले जाने से जो भिन्न भिन्न प्रकार के गुण प्रकट होते हैं, अथवा किसी मनुष्य में बराबर एक ही प्रकार की भावना दिये जानेसे उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति में जो परिवर्तन हो जाता है, अथवा किसी वृक्ष की बारबार एकही प्रकार से कलम किये जाने से उसके पत्रादिकों में जो रूपान्तर होता है

उन सब का कारण कृत्रिम संस्कार होता है। जिस कोटि के सन्निकर्ष और अभ्यास से ये संस्कार उत्पन्न होते है उसी कोटि के प्रतिकूल सन्निकर्ष और अभ्याससे वे नष्ट अथवा परिवर्तित किए जा सकते है।

पितृवंश और मातृवंश से जो संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं उनको अन्वयागत संस्कार कहते हैं।

जो संस्कार अन्वयागत होते हैं वे पूर्वजों के सहज संस्कार अथवा तीव्र कृत्रिम संस्कार होते हैं, पूर्वजों के जन्मान्तर संस्कार अन्वयागत नहीं होते हैं।

अन्वयागत संस्कारों के दाय नियम तीन हैं:—

(१) चौदह पीढ़ी तक पितृवंशी पूर्वजों के और पांच पीढ़ी तक मातृवंशी पूर्वजों के निःशेष सहज और केवल तीव्र कृत्रिम संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं।

(२) दूरस्थ पूर्वजों की अपेक्षा अन्तिक पूर्वजोंके संस्कारोंका प्राधान्य रहता है।

(३) पितृवंशी पूर्वजों के शारीरिक संस्कारों का और मातृवंशी पूर्वजों के मानसिक संस्कारों का प्राधान्य रहता है।

किन्तु अपत्य के जन्मान्तर संस्कार और जन्मान्तर कृतोदय के कारण उसमें उसके पूर्वजों के संस्कारों का कभी तद्भाव, कभी अन्यीभाव, कभी आविर्भाव; और कभी तिरोभाव होता है; अतः अपत्य में कभी पिताके संस्कारों का, कभी माताके संस्कारों का, कभी किसी पितृवंशी पूर्वज के संस्कारों का, कभी मातृवंशी पूर्वज के संस्कारों का, कभी अनेक पूर्वजों के संस्कारों के कुछ कुछ संयोग का प्राधान्य रहता है कभी उनके संस्कारों की केवल छायामात्र रहती है। दायरूप में पूर्वजों से प्राप्त हुए संस्कारों में अपत्य में केवल वही संस्कार व्यक्त रहते है जो उसके जन्मान्तर संस्कार और जन्मान्तर कृतोदय के अनुकूल होते हैं और जो उनके प्रतिकूल होते है वे अव्यक्त रहते हैं। इसी कारण अपत्य में पूर्वजों के संस्कार निपात नियम से प्राप्त हुए जैसे देखे जाते हैं।

जिन जिन पूर्वजों के संस्कार अपत्य को दायरूप में प्राप्त होते हैं उनकी पीढ़ियों के विषय में हमारे आचार्यों में कुछ मतभेद है, किन्तु मूल आधिजीविक सिद्धान्त में सबका मतैक्य है।

आधिजीविक शास्त्र के इन्हीं सिद्धान्तो के आधार पर हमारे आधिजननिक शास्त्रों में अधोलिखित बातें मुख्य मानी गई हैं:—

(१) वंशमें परम्परागत संस्कारों का उच्च होना।

(२) दम्पतियों के जाति और वर्ण एक होना, किन्तु गोत्र और पिण्ड भिन्न होना।

(३) दम्पतियों के गुणों में साम्य।

(४) पिता का ब्रह्मचर्य्य और माता का पतिदैवत्व।

(५) सन्तानोत्पादक केवल पूर्ण यौवन में ही होना।

(६) गर्भाधान संस्कार।

(७) दोहदपूरण।

(८) पुंसवन।

(९) अनलोभन। (१०) सीमन्तोन्नयन। (११) गर्भभृति। (१२) जातकर्म।

(१३) शैशव संस्कार।

(१) उभयवंश के परम्परागत संस्कारों का उच्च होना—यह पहिले कहा जा चुका है कि चौदह पीढ़ी पितृवंशी और पांच पीढ़ी मातृवंशी पूर्वजों के निःशेष सहज संस्कार और तीव्र कृत्रिम संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं; इसी आधारपर हमारे आधिजननिक शास्त्रका यह सिद्धान्त हो गया है कि श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न करने के लिये उभयवंश में परम्परागत संस्कार उच्च होने चाहिएं।

पाश्चात्य यूजिनिक्स के अनुसार भी अभीष्ट सन्तान उत्पन्न करने के लिये अभीष्ट दम्पति चुने जाने चाहिएं। पाश्चात्य बायालौजिष्टों के मतानुसार प्रत्येक जीव में दो संस्कार होते हैं, एक वैरियेशन (Variation) और दूसरा मौडिफिकेशन (Modification); इन्हीं दो संस्कारों के संयोग से मनुष्य का स्वभाव बनता है।

वैरियेशन उन संस्कारों को कहते हैं जो बिन्दु अर्थात् जर्मप्लाज्म (Germplasm) में वर्तमान रहने वाले संस्कारों के परिणाम होते हैं; उनकी सत्ता उस समय प्रकट होती है जब कि दो जीवों के सन्निकर्ष और निमित्त बिलकुल समान होनेपर भी उनमें भिन्न भिन्न प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं; वैरिये-

शन के कारण ही उनमें गुणभेद होता है। जन्म धारण करने के पहिले से ही जीव को वैरियेशन प्राप्त रहते हैं।

मौडिफिकेशन उन संस्कारों को कहते है जो जीव के बाह्य सन्निकर्षजन्य संस्कारों के परिणाम होते हैं; उनकी सत्ता उस समय प्रकट होती है जब सन्निकर्ष भेदों के अनुसार जीवों की प्रवृत्ति में भी भेद होता है; मौडिफिकेशन के कारण ही एक प्रकार के जीवों में भिन्न प्रकार के गुण उत्पन्न होते है। मौडिफिकेशन जीव को जन्मधारण करने के पश्चात् प्राप्त होते हैं।

सब पाश्चात्य बायालौजिष्टो के मतानुसार प्रत्येक जीव को वैरियेशन उसके मातापिता से दायरूपमें मिले रहते हैं; जर्मन बायालौजिष्ट बीजमान के बड़े बड़े लेख एक प्रकार से इसी सिद्धान्त की व्याख्या हैं। कतिपय बायालौजिष्टों के मतानुसार मौडिफिकेशन भी अपत्य को दायरूप में मिलते हैं, इस विषय में बायालौजिष्टों के भिन्न २ मत हो रहे हैं, उन सब को मन्थन करके सार यह पाया जाता है कि मौडिफिकेशनों का अपत्य को दायरूप में मिलने के कुछ आनुमानिक प्रमाण पाये जाते हैं।

पाश्चात्य बायालोजी के मतानुसार वैरियेशन और मौडिफिकेशनों के अतिरिक्त तीन प्रकार के और भी संस्कार होते हैं, जो म्यूटेशन, रिवर्शन और रिकम्बिनेशन कहे जाते हैं।

म्यूटेशन से जीव के सहजगुणों में कुछ परिवर्तन होता है।

रिवर्शन से अपत्य में किसी एक पूर्वज के संस्कार जो उसके मातापिता में प्रकट न थे प्रकट हो जाते हैं।

रिकम्बिनेशन से अपत्य में उसके अनेक पूर्वजों के सहज गुणों का संयोग हो जाता है।

इन्हीं तीन प्रकार के संस्कारों के कारण एक ही दम्पति के सन्तानों में सब का स्वभाव भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। यह तो हुआ कार्य किन्तु कारण उन का पाश्चात्य बायालौजिष्टों को विदित नहीं हुआ। हमारे आचार्यों के मतानुसार उन सबके कारण हैं जन्मान्तर संस्कार और जन्मान्तर कृतोदय।

पाश्चात्य बायालौजी के उक्त सिद्धान्त हमारे आचार्यों को बहुत पहिले से विदित थे, इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार हमारी विवाह पद्धति अब तक चली आती है।

अतः हमारे आधिजीविक शास्त्र और पाश्चात्य बायालौजी दोनों के मतानुसार श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न करने के लिये ऐसे दम्पती चुने जाने चाहिएं कि जिनके वंश में परम्परासे श्रेष्ठ संस्कार चले आते हों।

(२) दम्पतियों के जाति और वर्ण एक होना किन्तु गोत्र और पिण्ड भिन्न होना—

यह पहिले कहा जा चुका है कि जाति की विशेषता होती है चिति, और यह भी कहा गया है कि मातापिता के विशेष संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं; फलतः चिति संस्कार भी अपत्य को दायरूप में मिलने चाहिएं; अतः भिन्न भिन्न जाति के स्त्री पुरुषों के मिथुनसे जो अपत्य उत्पन्न होते हैं उनको दायरूपमें पिता से एक चिति और माता से दूसरी चिति मिली रहती है, किन्तु हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार दो भिन्न चितियां एक साथ नहीं रह सकती हैं। एक चिति दूसरी चिति को नाश कर देती हैं यदि दोनों चितियां बराबर सम्वेग की होती हैं तो वे परस्पर लड़कर एक दूसरे को नष्ट कर देती हैं, यदि उनमें एक चिति अधिक संवेगकी और दूसरी न्यूनसंयोग की होती है तो उनके परस्पर विप्रतिपत्ति में अधिक संवेगवाली चिति से न्यून संवेगवाली चिति के बराबर अंश कट जाता है। अथवा जब दो भिन्न चितियां समान कोटि की होने से लड़ती नहीं हैं तो उनके संयोग से एक तीसरी विकृत चिति उत्पन्न हो जाती है जिससे समाज में विजातीय और दुष्प्रवृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। दम्पतियों की जातीयां भिन्न होना समाज के लिये उभयतः अनिष्टकारी होता है। पूर्वपक्षमें समाज में विराट्शून्य क्लीब मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उत्तर पक्ष में समाजमें भ्रष्ट और दुष्प्रवृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इसी आधिजीविक नियमानुसार दो भिन्न जाति के पशुओं से जो सङ्कर पैदा होते हैं वे बहुधा नपुंसक और दुःशील होते हैं। अतः एक चिति और एक विराट्-युक्त सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पति की जाति एक होनी चाहिये।

इसी सिद्धान्त के अनुसार वर्ण विशेषतायुक्त सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पति का वर्ण भी एक ही होना चाहिये।

जाति और वर्ण की विशेषता बनाए रखने के लिये दम्पतियों के जाति और वर्ण एक होने चाहिएं किन्तु सत्वशाली सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पतियों के पिण्ड और गोत्र भिन्न होने चाहिएं। हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार सगोत्री और सपिण्डों के मैथुन होने से बिन्दु और रज सत्वहीन हो जाते हैं जिससे उन स्त्रीपुरुषों के सन्तान नहीं होते हैं और जो हुए भी तो वे निस्सत्व और निस्तेज हो जाते हैं।

पाश्चात्य बायालौजिष्टों का भी अब यह मत हो रहा है कि (Breed in

to fix type and breed out to secure vigour) अर्थात् सन्तान में विशेषता बनाए रखने के लिये उसके मातापिता में सादृश्य होना चाहिये और उसमें सत्व होने के लिये उसके मातापिता में भिन्नता होनी चाहिएं अर्थात् विशेषतायुक्त सत्वशाली सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पती ऐसे होने चाहिये जो न तो बिलकुल दूर हों और न अन्तिक बान्धव हों; अपरञ्च पाश्चात्य बायालौजी के मतानुसार अत्यंत अन्तिक बान्धवों के मिथुन से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे बलहीन होते हैं और कुछ पीढ़ियों तक ऐसे बलहीन सगोत्रियों के मिथुन से सन्तान उत्पन्न होते रहने से कालान्तर में उनके सन्तानों में बन्ध्या दोष उत्पन्न हो जाता है।

अतः हमारे आधिजीविकशास्त्र और पाश्चात्यों की बायालौजी दोनों के सिद्धान्तानुसार तेजस्वी विराट्युक्त स्वधर्म परायण सन्तान उत्पन्न करने के लिये दम्पतियों के जाति और वर्ण एक किन्तु पिण्ड और गोत्र भिन्न होने चाहिये।

(३) दम्पतियों के गुणों में साम्य—हमारे आधिजननिक शास्त्रानुसार भगवती प्रकृति ने भिन्न २ कार्य के लिये पुरुषों को एक प्रकार के गुणों में विशेषता दी है और स्त्रियों को दूसरों प्रकार के गुणों में विशेषता दी है; पुरुषों को उसने तेज त्याग तर्क प्रतिभा योगशक्ति और मानसिक सहिष्णुता आदि गुणों में विशेषता दी है, और स्त्रियों को उसने क्षमा प्रेमभाव धारणा क्षमशक्ति और शारीरिक सहिष्णुता आदि गुणों में विशेषता दी है; अतः स्त्री के आदर्शगुण पुरुष के आदर्श गुणों के पूरक होते हैं न कि प्रतिरूप। स्त्री पुरुषों के गुणों का एक दूसरे के पूरक होना साम्य कहा जाता है। जिन स्त्री पुरुषों के गुणों में साम्य नहीं होता है अथवा जिन स्त्री पुरुषों के विपरीत गुण होते हैं अर्थात् स्त्री में पुरुषों के गुण और पुरुष में स्त्री के गुण होते हैं उनके सन्तानों में कुछ न कुछ विकृति रहती है। साम्यकरण विधि हमारे सामुद्रिक शास्त्र का एक अङ्ग था, वर्तमान फलित ज्योतिष में जो साम्यकरण विधि है उसका वास्तविक आधार सामुद्रिक शास्त्र ही था।

पितृब्रह्मचर्य और मातृपातिदैवत्व—पहिले यह कहा जा चुका है कि हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार शरीरी जब किसी शरीर में प्रवेश करके बिन्दुमय शरीर को धारण करता है तो उस अवस्था में वह कुछ संस्कारों को प्राप्त करता है, तदनन्तर गर्भ में जब रजसे उसका संयोग होता है, वह कुछ और नवीन संस्कारों को प्राप्त करता है; बिन्द्ववस्था और गर्भावस्था में प्राप्त किये हुए इन संस्कारों के अनुसार ही जीव के मन बुद्धि कर्म शरीर हुआ करते हैं, ये संस्कार बड़े प्रबल होते हैं और जीव के उस पाञ्चभौतिक शरीर के छूटने तक रहते हैं समाधिको छोड़ और किसी प्रकार वे अन्यथा नहीं किये जासकते हैं; जवि

जैसे सन्निकर्षों में रहता है वैसे उसमें संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। इन दो सिद्धान्तों का संयोग करने से सिद्ध यह हुआ कि बिन्द्ववस्थामें जीव को जैसा शुक्र मिलता है वैसे उसमें संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे योगशास्त्र और वैद्यकशास्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्य्य से शुक्र में तेज उत्पन्न हो जाता है, ज्यों ज्यों ब्रह्मचर्य्य में निष्ठा होती जाती है त्यों त्यों शुक्र में तेज की वृद्धि होती जाती है यहां तक कि अन्त में उसमें दाहकशक्ति उत्पन्न हो जाती है; ऐसे तेजोमय सन्निकर्षों में पले हुए बिन्दु में भी तदनुरूप तेजोमय संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः हमारे धर्मशास्त्रानुसार तेजस्वी संतान उत्पन्न करने के लिये पिता का ब्रह्मचर्य्य अत्यावश्यक समझा गया है।

किन्तु तेजोमय बिन्दु को धारण करने के लिये रज भी वैसा ही श्रेष्ठ होना चाहिए, साधारण रज तेजोमय बिन्दु को धारण नहीं कर सकता है, प्रथम तो विषम बिन्दु और रज का संयोग होता ही नहीं और जो दैवात् ऐसा हुआ तो बिन्दुके तेज से रज गल जाता है, और जो कदाचित् ऐसा न हो तो थोड़े दिनो में गर्भपात हो जाता है, साधारण स्त्री तेजोमय गर्भ को धारण नहीं कर सकती है, जो कदाचित् गर्भ रह भी जाय तो बालक में एक प्रकार का गुणवैषम्य हो जाता है, उत्तम बिन्दु संस्कार के कारण उसमें तेज और बीरता तो भरी रहती हो; किन्तु साधारण रजः संस्कार के कारण व्यवसायात्मिक बुद्धि न होने से उसका विकाश नहीं होसकता है। तेजोमय बिन्दु केवल स्त्री के सङ्कल्पशक्ति से धारण किया जा सकता है जिस कोटि का बिन्दु में तेज होता है स्त्री में उसी कोटि की सङ्कल्प शक्ति होनी चाहिये, स्त्री में यह सङ्कल्प शक्ति आती है पतिदैवत्व से,. पति में अनन्यभाव से सन्निविष्ट हुए स्त्री के चित्त में महासङ्कल्पशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके बलसे वह तेजोमय बिन्दु को अनायास धारण कर लेती है; इसी सङ्कल्पशक्ति के प्रताप से ही सती चिताग्नि को तुच्छ समझती है, युगों के अखण्ड ब्रह्मचर्य से भगवान् पशुपति का शुक्र ऐसा तेजोमय हो गया था कि जिसको पृथ्वी अग्नि गङ्गा कोई भी धारण न कर सके, उसको धारण कर सकीं "ममात्र भावैक रसं मनः स्थितं, न काम वृत्तिर्वचनीय मीक्षते" कहने वाली केवल उमा। तारकासुरका बध केवल ऐसे उत्तम बिन्दु और रज के संयोग से उत्पन्न हुए कुमार के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता था। बिना अस्खलितवीर्य्य पिता और पतिदेवता माता से उत्पन्न हुआ कोई मनुष्य बड़ा काम नहीं कर सकता है, वैसे तो जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक राजा मन्त्री सेठ साहूकार होते रहेंगे किन्तु साधुओं का परित्राण दुष्टों का नाश धर्म की संस्थापना करने वाले वीर पुरुष रत्न तब ही उत्पन्न होवेंगे जब पुरुषों के ब्रह्मचर्य्य के साथ स्त्रियों के पतिदेवत्व का संयोग होगा।

पाश्चात्य बायालौजी के सिद्धान्तानुसार भी प्रत्येक जीवका अपने सन्निकर्षों से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होता है अर्थात् जैसे जीव के सन्निकर्ष होते हैं वैसी उनकी मानसिक और शारीरिक रचना होती है और वैसे उसमें गुण उत्पन्न होते

हैं, बायालौजी का यही सिद्धान्त इम्ब्रियोलौजी में विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहा गया है कि मनुष्य माता के गर्भ में आने से पहिले पिता के शरीर में बिन्दुरूप में रहता है, उसके कुछ गुण और प्रवृत्ति बिन्द्ववस्था में और कुछ गर्भावस्था में ही बन जाते हैं, पीछे उनमें बहुत कम परिवर्तन होता है अर्थात् जीव जब बिन्द्ववस्था में विराजमान रहता है तब ही उसकी प्रवृत्ति बहुत कुछ बन जाती है, ज्यों ज्यों वह गर्भरूप से शिशुरूप में और बालरूप में और मनुष्य रूप में बदलता जाता है त्यों त्यों बिन्द्ववस्था में प्राप्त की हुई प्रवृत्ति का उसमें विकाश होता जाता है; अतः पाश्चात्य बायालौजी और इम्ब्रियोलौजी से भी यही सिद्ध होता है कि जीव को जैसा शुक्र और गर्भ मिलता है वैसे उसमें गुण उत्पन्न होते हैं अर्थात् श्रेष्ठ जीव को उत्पन्न करने के लिये शुक्र और गर्भ श्रेष्ठ होने चाहिएं।

अपरञ्च ब्रह्मचर्य से पुरुषमें तीव्र श्रद्धा अर्थात् श्रेष्ठ गुणों की ओर तीव्र स्वरसवाहिनी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, और पतिदैवत्व से स्त्री में तीव्र लज्जा अर्थात् नीच कर्मों से तीव्र स्वरसवाही सङ्कोच उत्पन्न होता है, और यह पहिले कहा जाचुका है कि मातापिता के तीव्र संस्कार अपत्य को दायरूप में मिलते हैं; अतः पिता के ब्रह्मचर्य और माता के पतिदैवत्व से अपत्य में श्रद्धा और लज्जा होती है। जिस समाज में श्रद्धा और लज्जा का जितना आधिक्य होता है वह समाज उतनी श्रेष्ठ होती है और जिस समाजमें उनकी जितनी न्यूनता होती है वह उतनी नीच होती है और उसमें सुख शान्ति का उतना अभाव होता है। वास्तव में समाज की पालना श्रद्धा और लज्जा से ही होती है; अत एव देवताओं ने भगवती की स्तुति इस प्रकार की है

" श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् "

अतः श्रेष्ठ कामों की ओर स्वतः प्रवृत्त होने वाले और नीच कामों से स्वतः सङ्कोच करने वाले पुरुषों को उत्पन्न करने के लिये भी पुरुषों के ब्रह्मचर्य्य से स्त्रियों के पतिदैवत्व का संयोग होना अत्यावश्यक समझा जाता है।

(४) सन्तानोत्पादन केवल पूर्ण यौवन में होना—**हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार प्राणियों में तेज त्यागादि गुणों का पूर्ण विकाश केवल यौवन में होता है, उसके पहिले वे गुण अपरिपक्व रहते हैं और उसके पीछे वे क्षीण होने लगते हैं; अतः पूर्ण यौवन के पूर्व और पश्चात् उत्पन्न हुए सन्तानों में तेज त्यागादि गुणों की न्यूनता रहती है। हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार सन्तानोत्पादन के समय मातापिता के जैसे भाव जैसे विचार होते हैं वैसे ही भाव वैसे ही विचार उनके सन्तानों में भी होते हैं। लेमार्क आदि पश्चिमी बायालौजिष्टों का**

मत भी ठीक ऐसा ही है। अत एव हमारे धर्मशास्त्रानुसार यौवन के पहिले कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता था और न यौवन के चले जाने पर कोई गृहस्थाश्रम में रहने पाता था।

(५) गर्भाधान संस्कार--पहिले दो बातें कहीं जाचुकी हैं एक यह कि माता-पिता के तीव्र संस्कार अपत्य को दायरूप में प्राप्त होते हैं, दूसरी यह कि गर्भ में जैसे सन्निकर्ष होते हैं वैसी जीव की प्रवृत्ति बन जाती है। आधिजननिक शास्त्र में एक तीसरी बात भी कही हुई है कि रजस्वला होने के पश्चात् प्रायः एक पक्ष तक गर्भाधान हुआ करता है; इन तीन बातों को मिलाने से सिद्धान्त यह पाया जाता है कि रजस्वला होने के पश्चात् प्रायः एक पक्ष तक स्त्री के चित्त में जैसे संस्कार होते हैं, जैसे उसके आचारविचार और आहारविहार रहते हैं, जैसी उसके गर्भाशय की अवस्था होती है, वैसे गर्भस्थ जीव में गुण होते हैं। अतः हमारे आधिजननिक शास्त्र में ऋतुवती स्त्री के लिये विशेष पकार की चर्य्या, विशेष प्रकार की औषधियां और विशेष प्रकार का भोजन कहा गया है; तदनन्तर गर्भधारण के दिन से प्रसव होने तक गर्भवती स्त्री के लिये भिन्न भिन्न मासों में भिन्न भिन्न विधिसे भिन्न भिन्न प्रकार की औषधियां और विशेष प्रकार का भोजन बताया गया है जिनका कुछ कुछ उल्लेख हमारे वैद्यकशास्त्र और संस्कारविधि में पाया जाता है।

पाश्चात्य बायालौजी का भी इन दिनों यह मत हो रहा है कि जीव की अधिकांश प्रवृत्ति उसके गर्भावस्था के रचनासम्बन्धी (mechanical) रस सम्बन्धी (chemical) शरीरसम्बन्धी (physical) और सत्त्व सम्बन्धी (Vital) सन्निकर्षों के सन्निपात से बनी होती है। कई पाश्चात्य बायालौजिष्टों का यह भी मत है कि गर्भवती स्त्री की तीव्र वासना का गर्भस्थ जीव के चित्त में बड़ा प्रभाव पड़ता है। उनका यह सिद्धान्त हो रहा है कि मनुष्य का स्वभाव गर्भ के संस्कारों का विकाश मात्र होता है, जीव की अनेक प्रवृत्तियां उसके गर्भावस्था से ही बन जाती हैं, उस समय वे प्रवृत्तियां सूक्ष्म संस्कार रूप में रहती है, जीव के इन गर्भावस्था के संस्कारों का संयम करने से वह जैसा चाहिये वैसा बनाया जासकता है। गर्भस्थ जीव के संस्कारों को संमयका एक मात्र उपाय है उसके सन्निकर्षों का संयम करना। इन बातों से सिद्ध यह होता है कि पाश्चात्य यूजिनिक्स से हमारे आधिजननिक शास्त्र के उक्त सिद्धान्तों की पुष्टि हो रही है।

(६) दोहदपूरण--हमारे आधिजननिक शास्त्रानुसार जब गर्भस्थ जीव का हृदय बनने लगता है तो उस समय जन्मान्तर संस्कारों के अनुसार उस बनते हुए हृदय में कुछ इच्छा उत्पन्न होती है जिसका प्रतिबिम्ब गर्भवती स्त्री के

हृदय में पड़ता है जिससे वह इच्छा गर्भवती स्त्री के हृदय में दोहद रूप से जाग उठती है । हमारे आधिजननिक शास्त्रानुसार यह इच्छा येन केन पूरी होनी चाहिये, नहीं तो गर्भस्थ जीव के किसी न किसी अङ्ग अथवा नाड़ी में कुछ न कुछ विकृत्ति आजाती है, जिसके कारण पीछे जीव के स्वभाव में भी विकृत्ति आजाती है । हमारे सामुद्रिक शास्त्रानुसार अङ्ग और नाड़ियों का स्वभाव से अतिघनिष्ट सम्बन्ध होता है ।

(१०) पुंसवन अनवलोभन सीमन्तोन्नयन और गर्भभृति—हमारे आधिजननिक शास्त्र के अनुसार गर्भप्रकट होने से पहिले दूसरे अथवा तीसरे मास में पुंसवन, चौथे मास में अनवलोभन, छटे अथवा सातवे मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार, और सब महिनों में गर्भभृति कही गई है; इन भिन्न भिन्न प्रकार की संस्कार विधियोंसे और गर्भभृति की औषधियों से गर्भस्थ जीव के सब प्रकार के सन्निकर्ष श्रेष्ठ बनाए जाते हैं जिनके कारण प्रसव सुन्दर बलिष्ठ रूपवान और दैवीसम्पद्युक्त होता है। प्रसव के दिन निकट आने पर सूतिकागृह भी विशेष प्रकार का बनाया जाता है जिसकी विधि आधिजननिक शास्त्र में दी हुई है

(११) जातकर्म—हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार गर्भावस्था में शिशु नाल के द्वारा भोजन करता है और तीन चार दिन तक उसके हृदय की धमनियां नहीं खुलती हैं; अतः नालच्छेद होने के पहिले बालक को विशेष प्रकार की औषधि चटाई जानी चाहिए जिनमें से एक औषध ऐन्द्र ब्राह्म शङ्खपुष्पी और वच के कल्क को मधु घृत और सुवर्ण में मिलाने से बनती है, उक्त औषधको चटानेके पश्चात् कुछ संस्कार विधि से नालच्छेद किया जाना चाहिए, फिर तीन चार दिन तक बालको विशेष प्रकार की औषधियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं खिलाया जाना चाहिए, इन औषध और इन संस्कार विधियों से बालक के हृदय और शरीर में कुछ ऐसे रसायनिक और अन्य प्रकार के परिणाम होते हैं कि जिससे बालक तेजस्वी बुद्धिमान और आरोग्य होता है। इस विषय में पाश्चात्य बायालौजिष्टों का सिद्धान्त पहिले कहा जाचुका है जिससे हमारे आधिजननिक शास्त्र के उक्त सिद्धान्त का समर्थन होता है ।

इन उक्त उपायों से जो आजन्म शुद्ध शासक उत्पन्न होते थे वे भगवान् विष्णु के अवतार माने जाते थे । इन उपायों से बने हुए राजा और इन्हीं उपायों से बनी हुई प्रजा में परस्पर प्रेम और भरोसा रहता था, ऐसे राजा के राज्य में राजतन्त्रवादी और प्रजातन्त्रवादी दोनों का अर्थ सिद्ध हो जाता था। प्रत्यर्थी विषयों का संयोग करना हमारे दैशिकशास्त्र की विशेषता है, जैसे उसने वर्णाश्रमधर्मद्वारा अनेक विपरीतार्थी विषयों का मेल कर दिया था, एवं उसने आधिजननिक शास्त्र द्वारा मौनार्की और निहिलिज्म का भी मेल कर दिया था

इन दिनों पाश्चात्य देशों में यद्यपि शिक्षा का प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ रहा है, भिन्न भिन्न विद्याओं की वृद्धि हो रही है, विविध कलाओं का आविष्कार हो रहा है; किन्तु मनुष्यों की प्रवृत्ति में कुछ भी उन्नति नहीं हो रही है। अतः यूरप और अमेरिका के कुछ वैज्ञानिक लोग ऐसे शास्त्र की खोज में लगे हुए हैं जिससे मनुष्य के सहजगुणों में उन्नति होसके, जिसके प्रयोग से श्रेष्ट मनुष्य उत्पन्न किये जासकें, फ्रेन्सिस गाल्टन नामक एक व्यक्ति ने ऐसे शास्त्र का सूत्रपात करने का कुछ यत्न भी किया है जो इन दिनों यूजिनिक्स के नाम से कहा जारहा है। किन्तु पश्चिम में इस युजिनिक्स रूपी शुक्र का प्रकाश होने से बहुत पहिले पूर्व में आधिजननिक शास्त्र रूपी सूर्य्य का उदय हो चुका था, जिसकी छाया इस आह्निक में दिङ्मात्र दर्शाई गई है।

इति दैशिक शास्त्रे दैवीसम्पद्योगक्षेमाध्याये
आधिजननिको नाम प्रथमाह्निकः ।

द्वितीय आह्निक।

अध्यापन

बालशिक्षा

उत्तम आधिजीविक संस्कार युक्त अपत्य को पूर्णतया श्रेष्ट बनाने के लिये वैसेही उत्तम अध्यापनिक सन्निकर्ष भी मिलने चाहिये; अध्यापन (अधि+या+णिच्) का अर्थ है उन्नति के मार्ग में लेजाना अर्थात् धर्म को समझने और पालन करने की शक्ति उत्पन्न करना, न कि पढ़ना लिखना सिखाना। केवल पढ़ने लिखने से किसी में धर्म पालन करने की शक्ति प्राप्त नहीं होसकती है। अंग्रेज पण्डित हक्सले के मतानुसार भी केवल पुस्तकों के पढ़ने से किसीकी मूर्खता अथवा धूर्तता कम नहीं होसकती है। हमारे आचार्य्योंके मतानुसार धर्म को समझने और पालन करने की शक्ति उत्पन्न होती है बाल्यावस्था से ही मन बुद्धि और शरीर को विशेष प्रकार के ढांचे में ढालने से जिसकी विधि हमारे अध्यापन शास्त्र में दी हुई है। इस शास्त्र के अनुसार शिक्षा के तीन भाग किए गए हैं:—

(१) बाल शिक्षा काल (२) माध्यमिक शिक्षा काल (३) सामावर्तिक शिक्षा काल।

बालशिक्षा काल के लिये अधोलिखित नियम कहे गए हैं:—

(१) सात्विक आहार (२) अनामय (३) औपक्रमिक ब्रह्मचर्य्य (४) प्रेमाचरण (५) क्रीडा (६) बुद्धि उद्बोधन (७) शीलोत्पादन (८) आदर्श जनन (६) औदार्य शिक्षा (१०) गार्हस्थ शिक्षा (११) स्वाध्याय ।

सात्विक आहार—समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति और चेष्टा उनकी बुद्धि पर निर्भर होती है, बुद्धि होती है मस्तिष्क हृदय और शरीर के अनुसार, ये होते हैं भोजन के अनुसार भोजन सात्विक, राजसिक और तामसिक जैसा हुआ करता है वैसे ही मस्तिष्क शरीर और हृदय हुआ करते हैं। अतः हमारे अध्यापन शास्त्रमें गर्भावस्था से ही सात्विक आहार के लिए आग्रह किया गया है, सात्विक आहार में गाय का दूध और हविष्यान्न सबसे श्रेष्ठ समझा गया है ।

अनामय—धर्मपालन के लिये शरीर ही मुख्य पदार्थ समझा जाता है कहा भी है "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" अतः हमारे शास्त्रोंमें अनामय को बड़ा उत्कर्ष दिया है। अनामय के योगक्षेम के लिये तीन बातें आवश्यक होती हैं:—

(१) पथ्य भोजन (२) व्यायाम (३) ब्रह्मचर्य्य ।

पथ्य भोजन उस भोजन को कहते हैं जो सात्विक हो भोक्ता की पाचन शक्ति के अनुकूल हो, जिसमें विषम पदार्थों का संयोग न हो और जो देशकाल निमित्त के अनुकूल हो ।

व्यायाम का मुख्य प्रयोजन है शरीर के करण नाड़ी धमनी इत्यादिकों के कार्य्यों को ठीक तरह चलता रखना, मल-संचय होने के कारण उनको शिथिल न होने देना, और शरीर को सुन्दर सुडौल और फूर्तीला बनाना। अतः हमारे अध्यापन शास्त्रमें व्यायाम के निम्नलिखित नियम कहे गए हैं ।

(अ) व्यायाम में किसी प्रकार का संक्षोभ नहीं होना चाहिए ।

(आ) वह शक्ति और भोजन के अनुकूल होना चाहिए ।

(इ) वह ऐसा हो जो अनिच्छा प्रकट होते ही छोड़ दिया जासके । हमारे अध्यापन शास्त्रानुसार प्रातःकाल योगासन और नाड़ी शोधन करना और फिर वनविहार करना; सायङ्काल वनविहार के पश्चात् योगासन और नाड़ीशोधन करना उत्तम प्रकार का व्यायाम समझा गया है ।

औपक्रमिक ब्रह्मचर्य्य—हमारे आचार्यों के मतानुसार सब धर्मों का आधार है ब्रह्मचर्य्य; अतः उन्होंने जीवन का प्रथम तृतीयांश इसके लिये अलग रख दिया है । बालशिक्षा काल में ब्रह्मचर्य्य के सब नियमों को पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है, केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक के आहार विहार संस्कार और सन्निकर्ष ब्रह्मचर्य्य के अनुकूल हों, प्रतिकूल कारणों को उसके समीप नहीं आने देना चाहिए, ज्यों ज्यों यौवन समीप आता जाता है त्यों त्यों सावधानी और व्रत काठिन्य भी बढ़ाते रहने चाहिएं ।

प्रेमाचरण—गुरुजनों ने बालकों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि जिससे बालकों को उनके साथ बैठने में आनन्द प्राप्त हो, उनकी वाणी बालकों के कोमल चित्त में अङ्कित हो जाय, पांच छह वर्ष तक ताड़ना का प्रयोग नहीं होना चाहिए । जब बालक कोई अच्छा काम करें तो उसका उत्साह बढ़ाना चाहिए ।

क्रीडा—शैशव में मनुष्य जिस प्रकार की क्रीड़ा करता है यौवन में उसका चरित्र भी उसी प्रकार का होता है । वस्तुतः शैशव के खेलों से यौवन के चरित्र का सूत्रपात होजाता है । बालक के स्वभाव में भरे हुए क्रीड़ारसरूपी जल को बहने देने में श्रेय है न कि उसको रोकने में; नहर खोद कर उसके बहाव के लिए मार्ग बना देना चाहिए; बालक को इस प्रकार के खेलों में लगा देना चाहिए जिनमें किसी प्रकार का क्षोभ न हो शरीर और बुद्धि की समृद्धि परस्पर तुल्यरूप से होती रहें अर्थात् शारीरिक बल और स्फूर्ति के साथ साथ कल्पना शक्ति और सहृदयता का भी आविर्भाव होता रहे । छह वर्षका बालक जैसी क्रीडा करे उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए; किन्तु उसको राजसिक और तामसिक सन्निकर्षों से बचा रखना चाहिए ।

बुद्ध्युद्बोधन—जब बालक में कुछ समझ आने लगती है तो उसको खुले मनोहर स्थानों में ले जाकर पुष्प पक्षी आदि दिखाकर उसकी निरीक्षण शक्ति बढ़ाते रहना चाहिए; तदनन्तर जीवजन्तुओंके, फिर मनुष्यों के चित्र दिखाकर और फिर किसी पुष्पादि को दिखाकर उसका विश्लेषात्मक वर्णन सुनाकर बालक को निरीक्षण और अन्वीक्षण का अभ्यास कराना चाहिए; तदनन्तर प्राकृतिक उपायों द्वारा बालक में अनुमान शक्ति लाने का उद्योग करना चाहिए । इसके पश्चात् लोम विलोम रीति से कार्य्य कारण के सम्बन्ध में ध्यान देना सिखाना चाहिए । इस प्रकार बालक की तर्क शक्ति को बढ़ाते रहना चाहिए ।

शीलोत्पादन—किसी व्यष्टि और समष्टि का अभ्युदय और निःश्रेयस तभी होता है कि जब उसमें शील उत्पन्न होता है, शील के अवस्थित होने से अभ्युदय

और निःश्रेयस भी तिरोहित हो जाते हैं। शील कहते हैं प्रयाचार युक्त धर्मनिष्ठा को। हमारे अध्यापनशास्त्र में शीलोत्पादन का उपाय कहा गया है ऊर्ध्वप्रवृत्तिक आधारान्तरीकरण विधि द्वारा रागात्मकसंस्कारोंको क्षीण करना और दृढ़ीकरण विधि द्वारा द्वेषात्मकसंस्कारोंको नष्ट करना (ये विधियां 'बालशिक्षाशैली' नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक वर्णन की गई हैं) अभ्यासद्वारा त्याग और पराक्रम के संस्कारों को उत्पन्न करना, आयुर्वेदोक्त विधिद्वारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का योगक्षेम करना, शस्त्रास्त्र की शिक्षाद्वारा और स्वतन्त्र आजीविका के अनुशासन द्वारा अपने में भरोसा उत्पन्न करना। किन्तु इन दिनों शील का अर्थ और उसको उत्पादन करने के उपाय अन्यथा हो गये हैं; इन दिनों शील कहते हैं विनययुक्त औदासीन्य को और शीलोत्पादन का उपाय समझा गया हैं उपदेश सुनना और पुस्तकें पढ़ना।

आदर्शजनन—चित्त में जमे हुए आदर्श के अनुसार ही मनुष्य की समस्त चेष्टाएं हुआ करती हैं; अतः शैशव से ही स्वजातीय महापुरुषों के चित्र दिखाकर और उनकी कथा सुनाना बालक का आदर्श उच्च बना देना चाहिए। उसके सामने किसी आसुरीसम्पद् आदि नीच गुणवाले मनुष्य की बड़ाई नहीं करनी चाहिए, चाहे वह कैसा ही धनवान और प्रभाव शाली क्यों न हो और बालक का साहचर्य्य ऐसों से न होने देना चाहिए जो आसुर आदि नीच संस्कार युक्त हों और जो धन के मद में उन्मत्त हुए हों।

औदार्य्य शिक्षा—हमारे अध्यापनिक शास्त्र के अनुसार उदारता उत्पन्न करने का सबसे अच्छा उपाय है बालक के हृदय में चित्तप्रसादन के संस्कार डालना और उससे छोटीमोटी बातों में आत्मत्याग का अनुशीलन कराना।

गार्हस्थ शिक्षा—प्रायः समस्त धर्मों का आधार है गृहस्थाश्रम। जब तक इस धर्म का यथार्थ रीति से पालन होता है तब तक सब धर्म स्थित रहते हैं, गृहस्थ-धर्मरूपी सूर्य्य के अन्तर्हित होते ही अन्यधर्मरूपी कमलों का सरासर सङ्कोच हो जाता है। अतः हमारे दैशिक आचार्य्योंने गार्हस्थ शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया है, उनके मतानुसार बिना पौरुष त्याग और विवेक के गृहस्थाश्रम का ठीक ठीक पालन नहीं होसकता है, पौरुषादि गुण प्राप्त होते हैं अनुशीलनसे न कि उपदेशसे; अतः मनुष्य का लालन पालन ऐसे ही सन्निकर्षों के बीच होना चाहिए, इन गुणों से युक्त महापुरुषोंके रङ्गीन चित्र उसको दिखाते रहने चाहिएं उसके चित्तमें रागद्वेष और भयके संस्कार पड़ने नहीं देने चाहिएं, पांचवे अथवा छठे वर्ष से बालक को अपनी कुलवृत्तिके काम में लगाकर उसके मूलतत्त्वोंका व्यवहारिक ज्ञान करा देना चाहिए, कुछ सयाना हो जानेपर उसको कृषि और गोरक्षा की भी कुछ व्यवहारिक शिक्षा दे देनी चाहिए, चाहे सयाना होने पर उसको इनसे कुछ

प्रयोजन न पड़े, बालक की प्रवृत्तिके अनुसार उसको एक दो काम ऐसे सिखा देने चाहिए कि जो आपद्‌काल में उसका सहारा दे सकें. तेरहवें वर्ष से बालक को जातिसम्बन्धी और देशसम्बन्धी विषयों से परिचित कर देना चाहिए।

स्वाध्याय—उक्त शिक्षा के साथ साथ बालक को जब उसमें कुछ धारणाशक्ति आजाती है अरुन्धतीदर्शन न्याय से लिखना पढ़ना सिखाकर कोई ललित और मनोहर काव्य द्वारा उसके हृदय का विकाश करना चाहिए पृथक् पृथक् प्रकार के गणित शास्त्र द्वारा उसकी बुद्धि तीव्र करनी चाहिए, चित्रकला द्वारा उसकी दृष्टि सूक्ष्म करनी चाहिये प्राकृतिक विज्ञान द्वारा उसकी निरीक्षण और अन्वीक्षण शक्ति की वृद्धि करनी चाहिए, भूगोल और इतिहास द्वारा उसके लौकिक ज्ञान की वृद्धि और लोकशिक्षा के द्वारा उसकी सङ्कीर्णता का नाश करना चाहिए।

माध्यमिक।

इस प्रकार बालशिक्षाके पूर्ण हो जाने पर जब बालक की बुद्धि और शरीर ब्रह्मचर्य्य वृत्त के योग्य हुए समझे जाते थे तो किसी सुमुहूर्त में उसका उपनयन किया जाता था, उस दिन बालक किसी श्रेष्ठ आचार्य्यके आश्रम में भेज दिया जाता था जहां वह मनसा वाचा कर्मणा अपने को आचार्य्य के चरणों में समर्पण कर देता था, आचार्य्य विद्यार्थीसे ब्रह्मचर्य्यकी प्रतिज्ञा लेकर और बदले में आशीर्वाद देकर विद्यार्थीको अपने हृदय में वास देते थे और तबसे उनमें गुरु शिष्य का सम्बन्ध हो जाता था; उस दिन से माध्यमिक शिक्षा का प्रारम्भ होता था. तब विद्यार्थी के सन्निकर्ष बिलकुल बदल दिए जाते थे, उस दिन से वह बटु कहा जाता था, उसको वस्त्र भूषण आदि भोगविलास के पदार्थों का त्याग करके चर्म मेखला सूत्र दण्ड कमण्डलु धारण करने पड़ते थे, मानापमान में समदृष्टि होने के लिए बटु को भिक्षा करनी पड़ती थी, भविष्य में होनेवाली अपनी धर्म पत्नी को छोड़ संसार की समस्त स्त्रियों में उसको मातृवत् भावना करनी पड़ती थी भिक्षा मांगने के शब्दों में अपने वर्ण की सूचना भी दे देनी पड़ती थी, भिक्षा आहार से अधिक नहीं लेनी पड़ती थी, वह भी अनेक घरों से न कि एक घर से; जो कुछ भिक्षा प्राप्त होती थी वह सब गुरूजी को अर्पण कीजाती थी; वन में जाकर हवन के लिए कुश समित् और इन्धन लाने पड़ते थे; रहने के लिए पर्णकुटी, सोने के लिए कुशशय्या, जलाने के लिए इंगुदी तैल काम में लाने पड़ते थे; बटुको अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह का व्रत धारण करना पड़ता था और शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का अभ्यास करना पड़ता था;

इन सार्वभौम महाव्रतों में स्थिति हो जाना कोई साधारण बात नहीं है, इनको पालन करने के लिये संसार को रङ्गभूमि जीवन मरण को जवनिका का उत्थानावपात समझ लेना पड़ता है; किन्तु ऐसी भावना तभी हो सकती है जब किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है जो विषयसुख से अधिक आनन्ददायिनी होती है. समाधिसुख ही एक ऐसी वस्तु है जिसका लेशमात्र भी अनुभव होने पर विषयसुख तुच्छ जान पड़ता है और ज्यों ज्यों समाधि में अभ्यास होता जाता है त्यों त्यों यम नियम में भी अधिक स्थिति होती जाती है; अतः माध्यामिक शिक्षाकाल में बटुको समाधि अभ्यास करवाया जाता था जिससे बटु के चित्त से विषय वासना हट जाती थी, अनेक प्रसुप्त नाड़ियां जागृत हो जाती थीं, बुद्धि और पौरुष का अभ्युदय हो जाता था और बुद्धि ऐसी तीव्र हो जाती थी कि कोई शास्त्र बटु को कठिन नहीं जान पड़ता था।

साथ ही इसके बटु को सम्पूर्ण मानव धर्म शास्त्रका अनुशीलन, अधिभाव शास्त्र और अध्यभाव शास्त्र का अध्ययन, अध्यात्म शास्त्र का ज्ञान, समस्त लौकिक शास्त्रों का तत्त्व ज्ञान, निःशेष विद्याओं से परिचय, अपने देशकाल का बोध, अपने वर्णधर्म में कौशल, और दैशिकशास्त्र में गति करवाई जाती थी।

ऐसी शिक्षा का स्थान ऐसा होता था जहां राजकुमारों से लेकर आकिंचन बटुओं तक सबकी दिनचर्या आहारविहार रहनसहन एक ही प्रकार का होता था, जहां छोटे बड़ों में धनीनिर्धनियों में भेदभाव नहीं होता था, जहां ऋषिमुनियों के शिवसङ्कल्प से समस्त स्थान सत्वमय हुआ रहता था, जहां सायंप्रातः वेदाध्ययन की सुन्दर ध्वनि, हवन की पवित्र गन्ध चित्त को प्रसन्न रखती थी, जहां मृग निःशङ्क पक्षी निर्भय रहा करते थे, मछलियां निर्भय होकर हाथ से चारा ले जाया करती थीं और दिनभर अतिथि सत्कार हुआ करता था। संक्षेपतः जहां शान्ति समता पवित्र आहारविहार शुद्ध आचारविचार श्रेष्ठ शिक्षा उच्च आदर्श रमणीय स्थान और मनोहर दृग्गोचर विराजमान रहते थे।

समावर्तिक शिक्षा

इस प्रकार माध्यामिक शिक्षा के समाप्त हो जाने पर बटु की प्रवृत्यनुसार उसे एक दो ऐसे शास्त्रों में पूर्ण पाण्डित्य करवाया जाता था जिससे वह जाति हित के साथ साथ स्वाहित भी साधन कर सके। तदनन्तर कुछ दिनों के लिए बटु सब अपने शास्त्रों का पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए [illegible] के आचार्यों के

पास अध्ययन के लिए भेज दिया जाता था। इस प्रकार किसी शास्त्र में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए अनेक गुरुकुलों में अनेक आचार्यों के पास जाना नैष्ठिक तीर्थाटन कहा जाता है। नैष्ठिक तीर्थाटन से लौटकर बटु फिर कुछ दिन के लिए अपने गुरुकुल में रहकर गुरुदेव की सेवा शुश्रूषा किया करता था, तदनन्तर गुरु आशीर्वाद देकर उसको विधिपूर्वक स्नान कराते थे, तब से बटु स्नातक कहा जाता था, तदनु वह सामर्थ्यानुसार गुरु दक्षिणा देकर गुरुदेव की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर अपने घर को लौटता था, कोई कोई बटु अपनी इच्छा से गुरु की आज्ञा से जन्मपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लेते थे। ऐसे बटु नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहे जाते थे। बड़े घरानों में अब तक उपनयन के दिन माध्यामिक और सामावर्तिक शिक्षाविधियों का स्वांग किया जाता है, एक ही दिन में दण्ड धारण से समावर्तन तक सब पूर्ण होजाता है। अपने घर में जाने से पहिले स्नातक को राजा के पास जाकर अपने स्नातक होने की सूचना दे देनी पड़ती थी क्योंकि राजा को स्नातको की सूची रखनी पड़ती थी; क्योंकि जाति का भविष्य इन्हीं स्नातकों पर निर्भर होता था।

इस प्रकार की शिक्षा पाए हुए लोग जैसे हो सकते हैं और जैसी उनसे बनी हुई समाज होसकती है यह भली भांति अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार की शिक्षा पाए हुए लोग गृहस्थाश्रम में कमलपत्र में जलबिन्दु के समान निलिप्त रहा करते थे, मन उनका योग और तपोवन में लगा रहता था, वार्धक का पदार्पण होते ही गृहस्थ को त्याग कर तपोवन में चले जाते थे; अतः समाज में किसी प्रकार के विषम संस्कार फैलने नहीं पाते थे। जर्मन कवि गठ (Goethe) भी इसी प्रकार की शिक्षा को आदर्श शिक्षा समझते थे।

प्रजा को शिक्षा की उपेक्षा न करने देना, शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में उनकी सहायता करना, प्रत्येक स्थान में विद्वान ब्राह्मणों का प्राचुर्य्य रखना, देशकाल निमित्तों को शिक्षा के अनुकूल रखना, स्थान स्थानमें शिक्षाश्रम और गुरुकुलों को रखना, स्नातकों और आचार्यों का योगक्षेम करना, सर्वतः उनके उत्साह को बढ़ाए रखना राजा का कर्तव्य समझा जाता था। जिस राजा के राज्य में उक्त अध्यापन शैलियों का प्रशस्त प्रचार होता था वह धर्मराट् कहा जाता था, और जिस राजा के राज्य में उक्त अध्यापन शैलियों की उपेक्षा होती थी वह धर्मच्युत समझा जाता था।

इन शिक्षाविधियों का सविस्तर वर्णन समयानुसार न्यूनाधिक करके कुछ

व्यावहारिक सङ्केतों के सहित "बालशिक्षा शैली" "माध्यमिक शिक्षा शैली" और "समावर्तिक शिक्षा शैली" नामक पुस्तकों में किया गया है। "बाल शिक्षा शैली" नामक पुस्तक छप चुकी है।

स्त्री शिक्षा

समाज का मुख्य आधार है गृहस्थाश्रम, गृहस्थाश्रम रूपी धरिणी मण्डल के स्त्री पुरुष दो ध्रुव हैं, इन दो ध्रुवों की शक्तियों से जगत् की धारणा होती है, गृहस्थाश्रमके इन दो ध्रुवों की मानसिक और शारीरिक रचना में चाहे कुछ कुछ सादृश्य हो किन्तु अनेक बातों में अन्तर भी बहुत है इसी अन्तर के कारण उनमें भिन्न भिन्न प्रकार की विशेषता हो गई है। जैसा कि पहिले कहा जाचुका है पुरुषों की विशेषता होती है तेज और त्याग में, स्त्रियों की विशेषता होती है क्षमा और प्रेम में, स्त्री पुरुषों में उन के विशेष गुणों की समृद्धि करके पुरुषोंको कर्मयोगी बनाना और स्त्रियों को पतिदेवता बनाना अध्यापन का मुख्य अभिप्रेत समझा जाता है। अतः स्त्री पुरुषों के लिए अध्यापन शैलियां भिन्न २ प्रकार की होनी चाहिएं; पुरुषों का अध्यापन होना चाहिए तेजोमय और त्यागमय सन्निकर्षों के बीच और स्त्रियों का अध्यापन होना चाहिए क्षमामय और प्रेममय सन्निकर्षों के बीच। भगवती अनसूया के अनुसार

"एके धर्म एके व्रतनेमा काय वचन मन पतिपदप्रेमा"।

अतः स्त्री शिक्षासम्बन्धी इस सिद्धान्त के साथ मानव हृदय की प्रवृति का विचार करके यह मानना पड़ता है कि स्त्री शिक्षा पाठशालाओं में नहीं होसकती है। स्त्री शिक्षा के लिए पितृगृह को छोड़ और कोई स्थान उपयुक्त नहीं होसकता है, हमारे अध्यापन शास्त्र के अनुसार स्त्रियों में क्षमा और प्रेम के संस्कार डालने के लिए देवार्चन व्रतधारण कथाश्रवण गृहस्थकर्माभ्यास मुख्य उपाय हैं, इन उपायों से बालिकाओं में पतिदैवत्व के संस्कार उत्पन्न होते हैं, पुराने बड़े घरों में स्त्रियों को अब तक ऐसी ही शिक्षा दी जाती है।

लोकमतपरिष्कार

हमारे दैशिकशास्त्रानुसार लोकमतपरिष्कार भी अध्यापन शास्त्र का एक अङ्ग समझा जाता था, क्योंकि जैसी लोकमत की हवा चलती है वैसे ही लोग उत्पन्न होते हैं, लोकमत के सामने बड़े २ महात्माओं को भी मस्तक नवाना पड़ता है, भगवान् रामचन्द्रजी को भी ''अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतोमे'' कहकर सीताजी का परित्याग करना पड़ा, इसी लोकमत और लोकापवाद ने सतीरूप भारत को लज्जावती रूप बना दिया है, यही शोचनीय रूपान्तर हमारी पठित समाज में विशेषतर दिखाई दे रहा है, ये लोकमत और लोकवादरूपी शुम्भ और निशुम्भ हमारी पठित समाजरूपी ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुए हैं, निर्विवाद लोगों के मत और वाद को महत्व देने से बहुधा ऐसा ही शोचनीय परिणाम होता है; पुस्तकों का कीड़ा होने से किसी का मत और वाद मानाई नहीं होसकता है । जब अनक्षर मूर्खों में पठित मूर्खों का डङ्का बजता है तो लोकमत और लोकवाद अत्यन्त नीच और भ्रष्ट हो जाते हैं । अतः हमारे दैशिकशास्त्रानुसार लोकमत और लोकवादका परिष्कार होना अत्यावश्यक समझा गया है, यह काम परिव्राजक और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को दिया गया है, उनके इस कार्य्य में सहयोग देना राजा और सेठों का काम है ।

हमारी इस अध्यापन शैलीका अब लोप हो गया है वर्तमान शिक्षाशैली से उसका किसी बात में सादृश्य नहीं है, सादृश्य इन में केवल इस बात का है कि ये दोनों शैलियां अद्वितीय हैं इन दोनों शैलियों के समान अध्यापन शैली संसार में कहीं भी नहीं है, भेद और उनमें यह है कि हमारी प्राचीन शिक्षाशैली को अनेक जातियों ने अनुकरण करना चाहा किन्तु वे ऐसा कर न सके, और अर्वाचीन शैली का अनुकरण अनेक जातियां कर सकती हैं किन्तु वे ऐसा करना नहीं चाहतीं हैं ।

इति दैशिक शास्त्रे दैवी सम्पदयोगक्षेमाध्याये
आध्यापनिको नाम द्वितीयाह्निकः ।

तृतीय आह्निक

अधिलवन

इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में यह कहा गया है कि जाति सहज सजीव और सावयव पदार्थ है, अन्य सजीव पदार्थों के समान विशेषतः बड़े उद्भिजों के समान जाति भी प्राकृतिक रीति से उत्पन्न होती है, उन ही के समान इसकी भी शाखाएं पत्र फूल और फल होते हैं, भगवती प्रकृति किसी कार्य्य विशेष के लिए एक जाति को उत्पन्न करती है और जब वह कार्य्य पूरा हो जाता है तो वह जाति प्राकृतिक रीति से अपने कारण में लय हो जाती है। वनस्पतियों के समान जातियोंका भी वृद्धिकाल और क्षयकाल होता है, इन दो कालों में जातियों में भिन्न भिन्न प्रकार के भाव और चेष्टाएं होती हैं, इन भाव और चेष्टाओं से जातियों के उदयावपात का अनुमान बहुत पहिले हो जाता है। क्षय काल में प्रत्येक जाति की चिति अन्तर्लीन और विराट खण्डित हो जाते हैं, जिससे उनकी अनेक शाखाएं निःसत्व हो जाती हैं. अनेक सड़ने लगती हैं, और अनेकों में वृक्षादन उत्पन्न होने लगते हैं जो वृक्ष के रस और सार को खींच लेते हैं, होनहार शाखाएं नीरस और निसत्व होकर सूखने लगती हैं, दुष्ट शाखाओं से सर्वत्र दोष का सञ्चार होने लगता है, कालान्तर में वृक्ष दूषित होकर सूखने लगता है। किन्तु यदि समय समय पर वृक्षादन और दुष्ट शाखाएं चुनचुन कर अलग कर दिए जायं तो जातिरूपी वृक्ष में विराट्रूपी प्राण का पुनः प्रादुर्भाव होने लगता है, वृक्ष सूखने नहीं पाता और पहिले के समान हराभरा होजाता है, इस प्रकार जातिरूपी वृक्ष में अनभीष्ट अंश को उत्पन्न न होने देकर, और उत्पन्न हुए अनभीष्ट अंश को निकालकर उसको अवपात से बचाए रखना हमारे दैशिकशास्त्र में जातीय लवन कहा जाता है। जातीयलवन के बिना कोई जाति बहुत दिनों तक हरीभरी नहीं रह सकती है, शीघ्र ही उसका क्षयकाल उपस्थित हो जाता है; अतः जातीयलवन आधिजीविक धर्म कहा जाता है।

हमारे दैशिकशास्त्र में जातीयलवन के अनेक अङ्ग हैं, उनमें तीन अङ्ग मुख्य माने गए हैं:—

(१) बालब्रह्मचर्य्य (२) वानप्रस्थस्यप्रथा (३) युद्ध।

बालब्रह्मचर्य्य—जैसे चतुर किसान अथवा प्रवीण माली किसी पौधे अथवा वृक्ष की सूरतसे उसकी चेष्टासे उसके संसर्गों और सान्निकर्षों से उसके बीज का अनुमान कर लेते हैं, जैसे निपुण ग्वाले बैल के शरीर और चमड़े को देखकर

जान लेते हैं कि उस बैल से कैसे बछड़े उत्पन्न होंगे, ऐसे ही प्राचीन काल में कुछ लोग मनुष्य के अङ्ग और चेष्टादि को देखकर उसके सन्तानों के विषय में बहुत कुछ अनुमान कर लेते थे। हमारे देशमें सामुद्रिक शास्त्र नामक एक ऐसी विद्या थी जिससे मनुष्य के अङ्ग चेष्टादियों को देखकर उसके सन्तानों के विषय में बहुत कुछ अनुमान कर लिया जाता था। इस शास्त्र के अनुसार जिस मनुष्य के सन्तानों का अनभीष्ट होने का अनुमान होता था उसको गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने नहीं दिया जाता था, उसको जन्मपर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण करना पड़ता था; अतः बिना गुरु की आज्ञा के कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने नहीं पाता था। जर्मन आचार्य्य निज्शे के मतानुसार भी बिना पादरी व डाक्तर की आज्ञा के किसी मनुष्य का विवाह नहीं होना चाहिए, विवाह केवल उसी का होना चाहिए जो आत्मिक तथा शारीरिक रूप से योग्य हो, आत्मिक तथा शारीरिक रूपसे अयोग्य मनुष्यों की सन्तानोत्पत्ति को रोकने के लिए कानून बनाए जाने चाहिएं। अमेरिका के क्यलिफोरनिया आदि अनेक प्रान्तों में ऐसे कानून बनाए भी जा रहे हैं। पाश्चात्य आचार्य्य जिस काम को कानूनों का त्रास फैलाकर, अयोग्य मनुष्यों को दण्ड घृणा और हास्य का पात्र बनाकर करना चाहते हैं उसी काम को हमारे आचार्यों ने बालब्रह्मचर्य्यप्रथा से, ब्रह्मचारी को त्याग का रसास्वादन कराके, उसको अद्वितीय गौरव का पात्र बना के किया। पाश्चात्यों को कानूनों से त्रास फैलाने के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं; कानून बनाने से एक ओर चाहे अनभीष्ट सन्तानों की उत्पत्ति रुक जाय; परन्तु दूसरी ओर गृहस्थ में प्रवेश करने से रोके हुए मनुष्य विषयण कामोद्विग्न प्रच्छन्नचारी अवश्यमेव होवेंगे; किन्तु ब्रह्मचर्य्य प्रथा से एक ओर अनभीष्ट सन्तानों की उत्पत्ति रुक जाती है और दूसरी ओर प्रसन्नचित्त जितेन्द्रिय बालब्रह्मचारी समाज की शोभा को बढ़ाते हैं।

जातीयलवन के लिए केवल बालब्रह्मचर्य्य ही पर्य्याप्त नहीं होता है क्योंकि हमारे आधिजीविक शास्त्रानुसार यौवन के पीछे उत्पन्न किया गया सन्तान भी समाज के लिये अनभीष्ट होता है चाहे वह मनुष्यका हो अथवा तिर्य्यग्जाति का किम्वा उद्भिज का; अतः माली लोग पुराने वृक्ष का बीज नहीं रखते हैं और ग्वाले बूढ़े सांड़ोंको गायों के साथ नहीं रहने देते हैं। इसी आधिजीविक सिद्धान्तानुसार हमारे धर्म शास्त्रानुसार कोई मनुष्य वार्धक के आनेपर गृहस्थाश्रम में रहने नहीं पाता था, उसको वानप्रस्थ गृहण कर लेना पड़ता था; इस प्रथा से न केवल अनभीष्ट सन्तानों की उत्पत्ति ही रुकती थी; किन्तु समाज में आसुरी भाव भी आने नहीं पाता था, क्योंकि गृहस्थ में बहुत आसक्ति होने से मनुष्य तृष्णा के जाल में बन्ध जाता है, तृष्णा से उस में लोभ क्रोधादिक उत्पन्न हो जाते हैं, लोभक्रोधादि से मनुष्य में आसुरी आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं; किन्तु जब मनुष्य पहिले से यह समझे रहता है कि मैंने गृहस्थ में थोड़े दिनों रहना

है, वार्धक के पदार्पण करते ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना है तो गृहस्थ में उसकी आसक्ति नहीं होने पाती है, उसके भाव विचार आदर्श सदा ऊंचे रहते हैं; भगवान् मनु के अनुसार वार्धक के चिन्हों के दृष्टिगोचर होने पर मनुष्य

"अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि परिच्छदम्
ग्रामादरण्यं निसृत्य निवसेद् जितेन्द्रियः

और फिर वही अजिन वही दण्ड वही मेखला वही

"विरोधि सत्वोज्झित पूर्व मत्सरम्,
द्रुमैरभीष्ट प्रसवार्चितातिथि
नवोटजाभ्यन्तर सम्भृता नलम् ।"

वानप्रस्थप्रथासे भी पूर्ण जातीयलवन नहीं हो सकता है; क्योंकि बहुधा यह देखा जाता है कि कुछ समय पीछे प्रत्येक उद्भिजकी प्राणशक्ति अन्तर्लीन होने लगती है, उसमें गुणहीन प्रसव उत्पन्न होने लगते हैं, उनकी शाखाएं स्वयं अथवा संसर्ग दोष से सड़ने लगती हैं, उनमें प्रतिरोध शक्ति नहीं रहती है; किन्तु कलम किए जाने पर उन में फिर प्राणसञ्चार होने लगता है, फिर वैसे ही सुन्दर प्रसव दिखाई देने लगते हैं, फिर वैसी ही प्रतिरोध शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह नियम केवल उद्भिजों के लिये ही नहीं है किन्तु प्रत्येक आधिजीविक सृष्टि के लिए सनातन नियम है; यह पहिले कहा जा चुका है कि जाति भी आधिजीविक सृष्टि है; अतः जातियों में भी कुछ समय पीछे विराट् अन्तर्लीन होने लगता है, उनमें गुण हीन मनुष्य उत्पन्न होने लगते हैं, स्वयं अथवा संसर्ग दोष से उनके अनेक कुलों का अवपात होने लगता है, उनमें प्रतिरोध शक्ति नहीं रहती है; किन्तु लवन किए जाने के पश्चात् जातियों में फिर विराट् का उदय होने लगता है, उनमें फिर वैसे ही वीर सन्तान उत्पन्न होने लगते है, फिर वैसी ही प्रतिरोध शक्ति का आविर्भाव होने लगता है; कलम किए जाने के पहिले और पीछे किसी वृक्ष को अथवा वनाग्नि लगनेके पूर्व और पश्चात् वनको देखने से उक्त आधिजीविक सिद्धान्त भली भांति समझ में आसकता है।

अतः हमारे दैशिकाचार्य्यों ने युद्धको रोककर शान्तिस्थापना की चेष्टा कभी नहीं की, वरन युद्ध को जातीय लवन के काम में लाकर उससे आधिजीविक लाभ उठाया, अर्थात् युद्ध के द्वारा उन्होंने जातिरूपी वृक्षसे अनभीष्ट अंश को उड़ाकर विराट् को अन्तर्हित नहीं होने दिया। इस प्रकार काम में लाया हुआ युद्ध हमारे दैशिकशास्त्रमें आधिलवनिक युद्ध कहा जाता है; हमारे आचार्य्यों के

मतानुसार प्रत्येक जाति के लिए ऐसा युद्ध परम उपयोगी होता है, विशेषतः उस जाति के लिए जिसका विराट् खण्डित होने लगता है; अतः युद्ध को रोकने का कभी यत्न नहीं करना चाहिए, मनुष्यों के रोके युद्ध कभी रुक नहीं सकता है, जातियों में युद्ध होना भगवती प्रकृति का सनातन नियम है, इस प्राकृतिक नियम को बदलकर अखण्ड शान्ति बनाए रखने की चेष्टा करना छद्म अथवा मूर्खता है; संसार में जितनी अशान्ति छद्म और कूटनीति से होती है उसकी शतांश भी युद्ध से नहीं होती है, युद्ध जनित अशांति विद्युत्पात के समान क्षण-भंगुर और एक देशीय होती है उसके पीछे परमहितकारी विराड्दयरूपी पर्जन्य बरसने लगता है; किन्तु कूटनीति जनित अशान्ति अवर्षण के समान चिरस्थायिनी और सर्वव्यापिनी होती है उसके पीछे महाअनर्थकारी दुर्भिक्ष उपस्थित होता है।

पाश्चात्य देशिकाचार्य्यों ने युद्ध को रोकने की चेष्टा की और इसलिए हेगकान्फे-रन्स स्थापित की गई किन्तु परिणाम इसका यह हुआ कि अंग्रेजो ने बोरों से युद्ध छेड़ दिया, चीनमें पाश्चात्य शान्तिवादियों की तोपें गरजने लगीं, रूस और जापानके बीच तलवारें खिंच आईं, दलाईलामाके मठपर अंग्रेजों की मशीनगन बरसने लगीं, ट्रिपली तुर्कों से छीनी गई, बालकन रियासतें सलतनत ए उशमान को नोचने लगीं; फिर अमेरिकाने भी जगत्व्यापिनी शान्तिस्थापना का बीड़ा उठा कर आर्बिट्रेशन कोर्ट (पंचायती अदालत) स्थापित करनी चाही; किन्तु फल यह हुआ कि अमेरिका और मैक्सिको के बीच मारूबाजा बजने लगा; तदनन्तर इङ्गलैण्ड के सप्तम एडवर्ड ने भी संसारसे युद्ध प्रथा उठा देनी चाही; किन्तु परिणाम में यह महासमर हुआ जिसने प्रायः समस्त देशों को उलझा दिया है और सर्वत्र अशान्ति फैला दी है; यह बात किसी से छिपी नहीं है कि पाश्चात्य शान्तिवादने भगवती कमला के अनेक प्रमोदकाननों को उजाड़ दिया है, अनेक जातियों की परिष्कृतिका लोप कर दिया है, अनेक सिंहासनों को शून्य कर दिया है, अनेक देशों के कला कौशलोंको नष्ट कर दिया है और अनेक जातियोंका मूलच्छेद कर दिया है। अतः सिद्ध होता है कि युद्ध प्रथा बन्द नहीं हो सकती है; युद्ध प्रथाको उठाकर जगद्व्यापिनी शान्तिका बीड़ा उठाना विडम्बना मात्र है । अतएव हमारे आचार्य्यों ने युद्धप्रथा को उठा देने की चेष्टा तो नहीं की; किन्तु युद्ध की योजना धर्म में कर दी अर्थात् युद्ध जातीयलवन के काम में लाया गया, उसके द्वारा दुष्टों का नाश और साधुओं का परित्राण किया गया, ऐसे युद्ध के लिए जातिका चतुर्थांश अलग रख दिया गया। हमारे धर्मशास्त्र में ऐसा युद्ध धर्मयुद्ध कहा जाता है, इसी युद्धके लिए गीता में कहा गया है कि

"धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते";

किन्तु सभी युद्ध धर्मयुद्ध नहीं होते हैं अर्थात् सभी युद्धों से जातियोंका लवन दुष्टोंका नाश और साधुओंका परित्राण नहीं होता है। जैसे बुरी तरह से कलम किया गया वृक्ष बिलकुल कलम न किए गए वृक्ष से भी अधिक नष्ट भ्रष्ट होजाता है; अतः अच्छी तरह वृक्षोंकी कलम करने के लिए चतुर माली की आवश्यकता होती है जो भली भांति यह जानता है कि वृक्षके किन शाखाओंको किन मूलों को कलम करना चाहिए; इसी तरह बुरी तरह युद्ध में लड़ी हुई जाति बिलकुल न लड़ी हुई जाति से भी अधिक नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। प्राचीन काल में हमारे भारत में धनुर्वेदादि अनेक ऐसे शास्त्र थे जिनमें यह बताया हुआ था कि किस युद्ध में किन मनुष्योंको किस प्रकार लड़ाना चाहिए। जिन्हों ने महाभारत पढ़ा है उनको विदित हो सकता है कि उस समय भारतमें जातीय लवनकी बड़ी आवश्यकता थी, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण युद्धके पक्ष में थे किन्तु उस समय उन्होंने युद्धको टालने की बड़ी चेष्टा की, क्योंकि उस समय निमित्त कुछ ऐसे हो गए थे कि जिनके कारण अधिलवन शास्त्रका अनुसरण हो नहीं सकता था, और हुआ भी ऐसा ही; फल इसका यह हुआ कि महाभारतके पश्चात् हमारी जातिमें विराट् खण्डित होने लगा, लोगों में स्वार्थकी वृद्धि होने लगी, वृष्णियों में औद्धत आगया, किसीमें उनका दमन करनेकी शक्ति न रही, समस्त जातिमें वृष्णियोंके दोषोंका सञ्चार होने लगा, सर्वत्र जातीय अवपातके चिह्न दिखाई देने लगे; भगवान् द्वारिकाधीश से यह बात सहन न हो सकी, अतः उन्होंने अपनी जातिकी रक्षा के लिये अपने वृष्णियों को परस्पर युद्ध में कटवाकर उनका लोप कर दिया, उस समय तो जाति अवपात से बच गई, किन्तु फिर थोड़े दिनों में कलि उपस्थित हो गया, धर्म अङ्ग हीन हो गया, पृथ्वीको दुःख होने लगा, यद्यपि परीक्षित ने कुछ काल के लिए कलिका प्रभाव रोक दिया तथापि उसको सुवर्ण में रहनेकी आज्ञा मिल गई, अन्त में सुवर्ण दोषसे ही राजा परीक्षित की भी मति भ्रष्ट हो गई, परीक्षित के पीछे जनमेजय के राज्य में दोषी छोड़े जाने लगे उनके बदले दण्ड निर्दोषियों को मिलने लगा, शास्त्रोंकी विस्मृति होने लगी, उनके पूर्ण ज्ञाता बहुत कम रह गए, दिग्विजयकी प्रथा उठ गई, जातीय लवन होना बन्द हो गया, जातिरूपी वृक्ष में वृक्षादन भर गए, होनहार शाखाएं नीरस होकर सूखने लगीं और विराट् अन्तर्लीन होगया। अतएव हमारे दैशिक शास्त्रमें अधिलवन शास्त्रको बड़ा महत्त्व दिया है, जब से इस शास्त्रकी उपेक्षा होने लगी तभी से हमारी जातिका विराट् खण्डित होने लगा, जिस जातिका विराट् खण्डित हो जाता है उसके लिए अधिलवनिक युद्ध के समान हितकर कोई काम नहीं हो सकता है, इसी युद्ध में लगने वालोंके लिए कहा गया है

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्य से महीम्"

अब हमारे इस अधिलवन शास्त्र का कोई नाम भी नहीं जानता है, यदि कोई

नाम जानता भी तो होता क्या, जैसा निरादर हमारे और शास्त्रोंका हो रहा है वैसा ही इसका भी होता, वास्तव में जिस जातिका विराट् रूपी चन्द्रमा अस्त हो जाता है उसके सब शास्त्र फीके पड़ जाते हैं, किसीको वे अच्छे नहीं लगते हैं; ठीक कहा है

"अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वतीयं
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीय शोभा,

इति दैशिकशास्त्रे दैवीसम्पद्योगक्षेमाध्याये
आधिलवणिको नाम तृतीयाह्निकः ।

इति प्रथम खण्डः